महावीर क्या थे

प्रकाशक
बृद्धिचन्द कुन्दनमल सुराणा
पो० तारानगर (राजस्थान)

प्राप्ति स्थान :
एवर ब्राइट प्लास्टिक बक्स
१०/१ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता १

धारक
आदर्श साहित्य संघ
चूरू (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति १९६४
द्वितीयावृत्ति १९६४
तृतीयावृत्ति १९६५
चतुर्थावृत्ति १९६६
प्रति संख्या २२००

पृष्ठांक ९६
मूल्य ७५ नये पैसे

मुद्रक
शोभाचन्द सुराना
रेफिल आर्ट प्रेस,
३१ बड़तल्ला स्ट्रीट कलकत्ता-७

फोन — { ३३ ७९०३
{ ३३ ६११८

प्रकाशकीय

महापुरुष सम्प्रदायातीत होते हैं, बाद में अनुयायी उन्हें सम्प्रदाय में पिरो देते हैं। किन्तु उनका जीवन-दर्शन सबके लिए पथ-दर्शन देता है। वे सबके होते हैं। महापुरुषों का हृदय विश्व-हृदय बना हुआ होता है।

भगवान् महावीर ऐसे ही एक महापुरुष हैं। इनका अहिंसामय जीवन विश्व-मैत्री का द्योतक है। भगवान् महावीर ने केवल कहा ही नहीं, अपितु जो कहा, उसे जीवन में भी उतारा। जीवन में उतारना उनके लिए स्वाभाविक ही था, कृत्रिमता लिए हुए नहीं।

हिंसा, स्पर्द्धा एवं वैषम्य के दुर्भावों से सन्तप्त जन-मानस को भगवान् महावीर के जीवन का प्रत्येक क्षण आदर्श और कर्तव्य-सुधा से सिंचन करने वाला है। इसलिए वे किसी एक वर्ग के न होकर सबके हृदय-सम्राट् हैं। यह उनके जीवन चिंतन से भलीभांति ज्ञात हो सकता है।

उपरोक्त भावों का स्फूर्त चित्रण करने वाले सफल लेखक हैं—मुनिश्री नथमल। जिन्होंने अपनी कृति 'महावीर क्या थे' में भगवान् महावीर के कुछेक जीवन कणों को संजोया है। प्रस्तुत पुस्तक भाषा, भाव एवं शैली के माध्यम से इतनी सहज व सरल बन पायी है कि सर्वसाधारण के हृदय को बरबस ही खींचने वाली तथा प्रेरणा देने वाली सी प्रतीत हो रही है। पाठक इससे लाभ लेकर सफलता को प्राप्त करेंगे—ऐसी आशा है।

सुश्री प्रवीणकुमारी चोरड़िया सुपुत्री—सागरमलजी चोरड़िया एवं सुश्री कुसुमकुमारी सुराना सुपुत्री—जयचन्दलालजी सुराना की भागवती दीक्षा के पुनीत अवसर पर इस अमूल्य कृति की प्रथमावृत्ति प्रकाशित हुई थी। हर्ष का विषय है कि इसका साहित्यिक जगत् में अपूर्व स्वागत किया गया और देखते ही देखते सारी की सारी प्रतियां हाथोंहाथ बिक गईं, द्वितीयावृत्ति व तृतीयावृत्ति का भी यही हाल रहा, अतएव चतुर्थावृत्ति पुनः आपके हाथों में पेश करते हुए हमें परम हर्ष हो रहा है। इस सद्प्रयास में श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी, महासभा, कलकत्ता एवं श्री श्रीचन्दजी रामपुरिया ने जो हार्दिक सहयोग प्रदान किया, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं

निवेदक ·

कुन्दनमल सुराना

पुस्तक के प्रति

महावीर क्या थे ? यह प्रश्न उन सबके सामने है, जो अहिंसा मे आस्था रखते है। महावीर क्या थे ? यह प्रश्न उन सबके सामने है, जो अभय, पराक्रम और ध्यान मे आस्था रखते है। इस पुस्तक में इस प्रश्न का सक्षिप्त समाधान है।

भगवान् महावीर का जीवन दीर्घ-तपस्वी का जीवन है। उसका समग्र दर्शन इस पुस्तक में नहीं है। किन्तु जो दर्शन है, वह भगवान् के जीवन का स्पर्श करने वाला है।

भगवान् महावीर का अभय अनन्त था, पराक्रम अदम्य और सत्य असीम, इसीलिए वे अहिंसक थे।

वे अहिंसा की साधना में सतत सलग्न रहे, इसीलिए उन्होंने कहा—"जो सत्य है वह मौन है, और जो मौन है वह सत्य है।" सत्य-जिज्ञासु के लिए भगवान् का जीवन-दर्शन महान् समृद्धि-पथ है। महावीर को पढना अपने जीवन की कल्याण-गाथाएँ पढना है और महावीर को पाना अपने आपको पाना है। आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में—"इस असयम-बहुल युग में महावीर को प्रस्तुत करने का अर्थ सयम को पुनर्जीवित करना है।"

मुझे आशा है कि यह निबन्ध-संग्रह उद्बोधक होगा।

२०२० पौष कृष्णा १३ मुनि नथमल

सुजानगढ़

अनुक्रम

महावीर क्या थे

?

: १ :

अहिंसा के प्रतीक भगवान् महावीर

यह काल-चक्र न आदि और न अन्त वाला है। यह प्रत्येक घुमाव के साथ कुछ लाता है और कुछ ले जाता है। लानेवाला हो तब आनेवाला क्यों नही आएगा ? जो आएगा, वह कुछ होकर ही आएगा। इसलिए कुछ लिए बिना कैसे जाए ? वह कुछ लिए आता है, किए चलता है और दिए चला जाता है। दुनिया उसे पीछे आका करती है, वह उसका काम है।

सीमाबद्ध मानव असीम की बात कैसे कहे ? इतिहास के पृष्ठ महान् विभूतियों के चरित्र और विचारों से भरे हैं। यही हाड-मांस का पुतला महान् बनता है और यही विभूति बनता है, परन्तु तब बने, जब विचार ऊंचे हों, भावना पवित्र हो और सिद्धान्त विश्वजनीन। बौद्धिक श्रद्धालु अपना सिर और हृदय उसे सौंपता है, जो पूत विचार और पूत आचार का होता है।

आचार्य समन्तभद्र भगवान् महावीर को और उनके समश्रेणिक पुरुषों को महान् मानने को तैयार हैं, किन्तु इसलिए नही कि उनके पास देव आते थे, देव-विमान आते थे, छत्र-चामर की विभूति थी, बल्कि

इसलिए कि वे यथार्थवादी थे और 'यथावादी तथाकारी' थे। मायावी ऐन्द्रजालिक पुरुष भी विभूति रच सकता है, इसलिए वह महत्ता की क्या कसौटी ? योगजन्य विभूतियाँ योगी में हों, यह असम्भव नही। फिर भी वे व्यक्ति की महिमा इसलिए नही बढाती कि प्रत्येक दार्शनिक अपने दर्शन-नायक का वैसा चित्र खीच सकता है। यथार्थवाद का आरोप नही हो सकता। इसलिए उसमे व्यक्ति के महत्त्व का एक मानदण्ड बनाने की क्षमता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे भगवान् का अप्रतिद्वन्द्वी गुण माना है। वे कहते हैं— प्रभो ! दूसरे दार्शनिक आपके चरण-कमल मे इन्द्र के लोटने की बात भले ही न मानें अथवा अपने दर्शन नायक को भी इन्द्र पूज्य बता दें, किन्तु आपकी वाणी मे जो यथार्थवाद है उसे न कोई ढाँक सकता है और न उसकी बराबरी कर सकता है।

पचीस सौ से कुछ अधिक वर्ष पहले की बात है। कुमार वर्धमान इस धरती पर आए। गृहस्थ बने, साधक बने और तीर्थङ्कर बने। उनकी उपदेश वाणी जागृति की लौ जलाने लगी। दीर्घकाल तक तपी तपस्या फैलने लगी। मौन साधना का रहस्य जनता ने समझा—पहले बनो और फिर बनाओ। वे अहिंसा की भूमिका पर चले। आत्म-जागरण को साथ लिये चले। समाज जगा देश जगा, राष्ट्र जगा। मूल बात व्यक्ति जगे। समाज देश और राष्ट्र की जड़ सत्ता मे वे उलझे नही। उन्होंने यथार्थवाद को रूप दिया। वह अहिंसा बनकर सामने आया। उनके सामने जाति देश काल भाव का कोई प्रश्न नहीं था सिर्फ हिंसा और अहिंसा का प्रश्न था।

उन्होंने जो कुछ किया, वह हिंसा को अ-समाधि और अहिंसा को समाधि मानकर किया। उनका जीवन इसका स्वयम्भू प्रमाण है। वे दीर्घ तपस्वी भी रहे और तपस्या का विरोध भी किया। उन्होंने साढे बारह वर्ष घोर तप तपा। उनके शिष्य अन्ताहार, प्रान्ताहार, रूक्षाहार और घोर करनी करने वाले हुए। 'देहे दुःखं महाफलम्' यह सिद्धान्त सुखार्थी दुनिया को अखरता रहा। दूसरी ओर उन्होंने पौद्गलिक प्यास को बुझाने के लिए तप करने वालों को कोसा। छल, कपट से तपे जाने वाले तप को गर्व का मूल बताया। तामसिक तपस्या पर उनकी दृष्टि सदा शनि का क्रूर रूप लिए रही। शरीर को तपाना धर्म है। इसकी सीमा यह है कि जब तक हिंसा न बढे। अपने प्रति और दूसरों के प्रति अपनी वृत्ति आर्त न बने। दूसरों का प्राण लूटने वाली, स्वय को आर्तध्यान मे डालने वाली तपस्या शाब्दिक तपस्या है। तत्त्व-दृष्टि से वह हिंसा है, इसलिए तपस्या नही। वे अकेले रहे और तीर्थ के प्रवर्तक लोक-सग्राहक भी बने। हजारों महाव्रती उनके शिष्य थे और लाखों अणुव्रती भी। उनके शिष्यत्व की सीमा थी अहिंसा। महाव्रती पूरे अहिंसक थे, इसलिए भगवान् महावीर ने उनके समूचे जीवन को अपने अनुशासन मे बाधा। अणुव्रती अहिंसा की पगडडी पर चलने वाले थे, इसलिए उनको वहाँ तक अनुशासना दी, जहा तक वे अहिंसा को साथ लिए चले।

वे मौन रहे और बोले भी। छद्मस्थ जीवन मे मौन साधना की। कैवल्य-प्राप्ति के बाद बोलने लगे। मौन इसलिए रहे कि अहिंसा पूरी तरह आत्मा मे रम जाय। कोई भी अयथार्थ बात मुँह से ना

निकले। बोले इसलिए कि जनता अहिंसा को समझे और पाले। वे ज्ञानवादी थे और थे शुष्क ज्ञान को अत्राण मानने वाले। क्रिया से पहले ज्ञान है। ज्ञानी पुरुष ही संयम साध सकता है। स-सूत्र—धागा पिरोई सुई गिरने पर भी गुम नहीं होती वैसे ही स-सूत्र—ज्ञानी पुरुष कदाचित् गिर भी जाय तो भी सम्हल जाता है पथ-भ्रष्ट नहीं होता। कोरा ज्ञान या प्रत्याख्यानहीन ज्ञान थोथा या सूखा ज्ञान है। वह उठाने वाला नहीं होता। अनेक भाषाएं त्राण नहीं देतीं विद्यानुशासन त्राण नहीं देता। जो पाप कर्म नहीं छोड़ता वह कोरे ज्ञान भार से दबा रहता है। त्यागी आचारवान् होता है और पण्डित आचारशील। आचारहीन अपने को पण्डित मानता है पर वास्तव मे वह पण्डित नहीं होता।

वे समन्वयकारी थे और आग्रही भी। उन्होंने ज्ञान और क्रिया का समन्वय किया। कोरा ज्ञान या कोरी क्रिया मोक्ष नहीं लाती। ज्ञान और क्रिया दोनों मिलें तब मोक्ष का मार्ग पूरा बनता है। काल स्वभाव नियति उद्योग और भाग्य को समकक्ष बताया। नित्य और अनित्य सदृश और विसदृश वाच्य और अवाच्य, सत् और असत् को एक ही वस्तु के दो अभिन्न पहलू बताकर सारे विरोधों की रीढ़ तोड़ डाली। एक शब्द में अनेकान्त दृष्टि की सुस्थिर स्थापना कर एकान्तवाद के लिए विपर्यय या भ्रमवाद से अधिक स्थान नहीं छोड़ा।

दूसरी ओर उन्होंने श्रद्धा और सम्यग्-दर्शन—सत्य के आग्रह को आत्म विकास की भूमिका मे सबसे पहला स्थान दिया। वह न आए

तो समता या वीतराग-भाव का आग्रह हो नहीं सकता। यो हम उनके जीवन की प्रत्येक धारा मे अहिंसा की ही गति पाते है। उन्होंने कुछ किया, वह भी अहिंसा के लिए और नही किया, वह भी अहिंसा के लिए। उनका आचार अहिंसामूलक, विचार अनेकान्त-दृष्टि-मूलक और भाषा स्याद्वाद-मूलक थी। वस्तुतः सभी अहिंसा-मूलक थे। मानसिक अहिंसा के लिए अनेकान्त-दृष्टि और वाचिक अहिंसा के लिए स्याद्वाद उनकी गतिविधि के स्रोत बने। वे आत्मिक साम्य के महान् उन्नायक थे। उन्हे शरीर-भेद से आत्म-भेद मान्य नहीं था। आत्म-विकास का तारतम्य आत्मा की मूल सत्ता को रूपातरित नहीं कर सकता। उन्होंने कहा—"छह प्रकार के जीवों को आत्म-तुल्य समझो। सब जीव अवध्य है। आवश्यक हिंसा भी हिंसा हैं जीवन की कमजोरी है, वह अहिंसा नही हो सकती।" उनका दार्शनिक दृष्टिकोण अद्वैत-परक था। "एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थित"—जीवात्मा ब्रह्म का अंश है, इसलिए जीवात्मा मात्र मे एकता की मति होनी चाहिए, ऐसी विचार-सरणि नही थी। फिर भी "जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है"—इस अद्वैत परक लगने वाली उक्ति मे उनकी समता का चरमरूप निखर उठता है। विकास और स्वत्व की दृष्टि से नानात्व होने पर भी स्वरूप की दृष्टि से एक आत्मा और दूसरी आत्मा के बीच कोई भेद-रेखा नही खिचती। इस आत्मिक साम्य की उत्क्राति मे सारे भेद चूर हो जाते हैं। यहाँ पर शरीर-भेद भी बाधा नहीं डालता, तब भला वर्ग-भेद, वर्ण-भेद और ऊंच-नीच के भेद की तो बात ही क्या ?

भगवान् का दृष्टि बिन्दु वीतराग-दशा में केन्द्रित था। हिंसामूलक साम्य मे जीवन के साधन सबको मिलें तब साम्य सबको न मिलें, तब वैषम्य यह मूल की बात है। अहिंसक साम्य में लाभ-अलाभ की भित्ति पर साम्य और वैषम्य नहीं टिकता। लाभ होने पर आत्मा फूले नहीं, अलाभ होने पर आत्मा छिजे नही—वह साम्य है। हिंसक साम्य बाहरी वस्तुपरक होता है और अहिंसक साम्य आत्मपरक। लाभ-अलाभ सुख-दुःख जीवन-मृत्यु निन्दा प्रशंसा मान अपमान में समता रहे—अहिंसक भाव रहे—यह है आध्यात्मिक-साम्य। वर्ण भेद परिग्रह से बनता है। उनकी अहिंसा मे उसे कोई स्थान ही नही। जिसे धन-धान्य न मिले वह अपरिग्रही नही। जिसे प्रचुरता से मिले तब भी उन्हे त्यागे वही अपरिग्रही है। त्यागी महान् होता है और त्यागी वह है, जो स्वाधीन वृत्ति से मिले भोगों को पीठ दिखाए।

उनका सर्वभूतात्मभूतवाद या सर्वभूतसमतावाद वर्ण भेद का—अस्पृश्यता का घोर तिरस्कार करता था। उच्चता का मद नीचता लानेवाला है। घृणा या जुगुप्सा मोह-कर्म का उदय है। घृणा करने से व्यामोह की परम्परा लम्बी हो चलती है। कार्यप्रणाली से विभक्त वर्ण-व्यवस्था को रक्त-मूलक मानना भूल है। कृत्रिम भेद को स्वाभाविक या शाश्वत मानना अज्ञान है। जो व्यक्ति अपने को उच्च मान कर दूसरे को प्रतिबिम्ब जैसा मानता है, वह ऊंचा नही है। आर्य वह है, कुलीन वह है जो गुण-सम्पन्न होता है।

व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र नही मानता। वह एक अज्ञात शक्ति की कठपुतली बनकर चलता है। इसीलिए वह अपनी दृष्टि या अपने

जैसे दूसरे पुरुष की दृष्टि को मानकर नहीं चलता, इससे आत्म-हीनता की जड जमती है, वर्ण-भेद का बीज फैलता है और भी होने योग्य चीज बनती है। भगवान् महावीर ने जड को पकडा, लक्ष्य को ठीक बीधा। आत्म-कर्त्तृत्व या व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की सूझ दी।

ईश्वर की इस कल्पना से जनता ने ईश्वर मे कर्त्तृत्व का आरोप कर डाला। सुख-दुःख और स्वर्ग-नरक की कुंजी ईश्वर के हाथ में सौप कर वह निश्चिन्त हो बैठा। इसके विरोध मे भगवान् महावीर ने कहा—"सुख-दु ख अपना किया होता है। स्वर्ग और नरक मनुष्य ही के हाथ मे है। अच्छी क्रिया अच्छा फल लाती है और बुरी क्रिया बुरा फल। प्राणी अपनी प्रेरणा से ही करता है और अपनी प्रेरणा से ही भोगता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और वह उसी रूप मे बदल जाता है।"

भगवान् जैसे तत्त्व-द्रष्टा थे, वैसे ही दीर्घ तपस्वी और साधक थे। उनकी तत्त्व-मीमासा मे सुलझी हुई दृष्टि मिलती है। वैसे ही उनकी योग-पद्धति मे जीवन की शान्ति और सारस्य भरा पडा है। उनकी चर्या मात्र योग था। वे वही क्रिया करते, जो मोक्ष से मेल खाती। अन्तरङ्ग जीवन की गाठ खोलते हुए उन्होने स्वय आचीर्ण और परखे हुए अनुभव दिए। लोग स्वतन्त्रता चाहते है, सुख, शान्ति और समाधि के इच्छुक है, मित्र बनाने की भी टीस रहती है, पर वास्तव मे आनन्द देने वाला मित्र, शान्ति देने वाला सुख और सुख देने वाली शान्ति है क्या, इसे समझना कठिन और पाना कठिनतर है।

भगवान् का दृष्टि बिन्दु वीतराग-दशा में केन्द्रित था। हिंसामूलक साम्य मे जीवन के साधन सबको मिलें तब साम्य सबको न मिलें, तब वैषम्य यह मूल की बात है। अहिंसक साम्य में लाभ-अलाभ की भित्ति पर साम्य और वैषम्य नहीं टिकता। लाभ होने पर आत्मा फूले नहीं अलाभ होने पर आत्मा झिंपे नही—वह साम्य है। हिंसक साम्य बाहरी वस्तुपरक होता है और अहिंसक साम्य आत्मपरक। लाभ-अलाभ सुख-दुःख जीवन-मृत्यु, निन्दा प्रशंसा मान-अपमान में समता रहे—अहिंसक भाव रहे—यह है आध्यात्मिक-साम्य। वर्ग भेद परिग्रह से बनता है। उनकी अहिंसा में उसे कोई स्थान ही नहीं। जिसे धन धान्य न मिले वह अपरिग्रही नही। जिसे प्रचुरता से मिले तब भी उन्हें त्यागे, वही अपरिग्रही है। त्यागी महान् होता है और त्यागी वह है, जो स्वाधीन-वृत्ति से मिले भोगों को पीठ दिखाए।

उनका सर्वभूतात्मभूतवाद या सर्वभूतसमतावाद वर्ण भेद का—अस्पृश्यता का घोर तिरस्कार करता था। उच्चता का मद नीचता लानेवाला है। घृणा या जुगुप्सा मोह-कर्म का उदय है। घृणा करने से व्यामोह की परम्परा लम्बी हो चलती है। कार्यप्रणाली से विभक्त वर्ण-व्यवस्था को रक्त-मूलक मानना भूल है। कृत्रिम भेद को स्वाभाविक या शाश्वत मानना अज्ञान है। जो व्यक्ति अपने को उच्च मान कर दूसरे को प्रतिबिम्ब जैसा मानता है, वह ऊंचा नही है। आर्य वह है, कुलीन वह है जो गुण-सम्पन्न होता है।

व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र नही मानता। वह एक अज्ञात शक्ति की कठपुतली बनकर चलता है। इसीलिए वह अपनी दृष्टि या अपने

जैसे दूसरे पुरुष की दृष्टि को मानकर नही चलता, इससे आत्म-हीनता की जड जमती है, वर्ण-भेद का बीज फैलता है और भी होने योग्य चीज बनती है। भगवान् महावीर ने जड को पकडा, लक्ष्य को ठीक बीधा। आत्म-कर्त्तृत्व या व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की सूझ दी।

ईश्वर की इस कल्पना से जनता ने ईश्वर मे कर्त्तृत्व का आरोप कर डाला। सुख-दुःख और स्वर्ग-नरक की कुंजी ईश्वर के हाथ मे सौंप कर वह निश्चिन्त हो बैठा। इसके विरोध मे भगवान् महावीर ने कहा—"सुख-दुःख अपना किया होता है। स्वर्ग और नरक मनुष्य ही के हाथ मे है। अच्छी क्रिया अच्छा फल लाती है और बुरी क्रिया बुरा फल। प्राणी अपनी प्रेरणा से ही करता है और अपनी प्रेरणा से ही भोगता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और वह उसी रूप मे बदल जाता है।"

भगवान् जैसे तत्त्व-द्रष्टा थे, वैसे ही दीर्घ तपस्वी और साधक थे। उनकी तत्त्व-मीमांसा मे सुलझी हुई दृष्टि मिलती है। वैसे ही उनकी योग-पद्धति मे जीवन की शान्ति और सारस्य भरा पडा है। उनकी चर्या मात्र योग था। वे वही क्रिया करते, जो मोक्ष से मेल खाती। अन्तरङ्ग जीवन की गांठ खोलते हुए उन्होने स्वयं आचीर्ण और परखे हुए अनुभव दिए। लोग स्वतन्त्रता चाहते है, सुख, शान्ति और समाधि के इच्छुक है, मित्र बनाने की भी टीस रहती है, पर वास्तव मे आनन्द देने वाला मित्र, शान्ति देने वाला सुख और सुख देने वाली शान्ति है क्या, इसे समझना कठिन और पाना कठिनतर है।

लोग इन्द्रिय-तृप्ति को सुख मानते है। सुख देने से सुख मिलता है—यों उनको विचारणा है। भगवान् ने बताया— जिनमे सुख क्षणिक होता है एव दुःख चिर तन और जिनका परिणाम सुन्दर नहीं होता वे काम भोग और उनसे होने वाली इन्द्रिय-तृप्ति जो अतृप्ति बढाती है सुख नही दुःख है। सुख तो आत्म रमण है। वह परिणाम मे सुन्दर है। उससे अन्त म विषाद नहीं मिलता, अतृप्ति मूलक परितृप्ति नही होती।'

आत्मा का समाधान आत्मा मे है पुद्गल मे नही। अपना समाधान अपने से ही मिलता है। 'पर मे स्व का आरोप या स्व पर का भ्रम' समाधान लाने वाला नही होता। समाधि का मार्ग यही है कि आत्मा अपने ही क्षेत्र मे विचरे। पौद्गलिक पदार्थों म बंध नही आसक्त न बने।

उनका मित्र सम्बन्धी विचार एक गहरी दृष्टि देता है, मित्र बाहर नही है। जहाँ स्वार्थ और प्रेम का द्वैत रहता है वहाँ मैत्री औपचारिक हो सकती है तात्विक नही। एक आदमी का स्वार्थ दूसरे के स्वार्थ से अत्यन्त जुडा हुआ हो ही नही सकता। प्रेम एक को हो दूसरे—यह असम्भव जैसी बात है। मित्रता पूरी वही मिलती है जहाँ स्वार्थ और प्रेम पूरे अभिन्न बनकर रहते है। भगवान् महावीर की यह ललित वाणी—पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि—सहज ही मनुष्य का ध्यान खींच लेती है। तू ही तेरा मित्र है बाहर क्या खोजता है ? मित्र वह है जो हित करे दुःख से छुडाए। उन्होंने बताया— तू अपने आप पर काबू पा अपने को जीत फिर शीघ्र ही सर्व दुःखों से छूट जाएगा।

भगवान् महावीर का व्यावहारिक जीवन भी औदार्य और सम-भाव को प्रश्रय देने वाला है। उन्होने व्यक्ति-पूजा का समर्थन नही किया। जन्म को श्रेष्ठता का आधार नही माना। गुरुपद को जन्म-सिद्ध घोषित नही किया। प्राणिमात्र को विकास करने का अधिकार है। पुरुषो की भाति स्त्रियाँ भी विकासोन्मुख साधना कर सकती हैं। उन्होने साधु-सघ की भाति साध्वी-सघ भी बनाया। कठोर और हृदयग्राही अनुशासन के वे प्रवर्तक थे। साधक कठोर मार्ग पर न चले तो फिसलने की सम्भावना उसका पीछा नही छोडती, इसलिए वे स्वय कठोर-चर्या मे रहे और अपने शिष्य-समुदाय के लिए भी उन्होने कठोर चर्या का निर्देशन किया।

जनता की भाषा मे जनता को उपदेश दिया, इससे वे जन-नायक बन गए। उन्होने साधुओ को गाव और अरण्य दोनो मे रहने की आज्ञा दी। साधु और गृहस्थ दोनों को साधना का अधिकार दिया। उनके हिमालय जैसे महान् जीवन पर दृष्टि डालते-डालते मनुष्य का सिर ऊँचा हो जाता है और अन्तर भाव श्रद्धा से झुक जाता है।



२ ध्यानयोगी महावीर

'दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर का प्रमुख विशेषण है। जन-साधारण की दृष्टि मे वे तपस्वी ही थे। नवनालन्दा की बात है। आचार्यश्री के पास कई प्रोफेसर बैठे थे। उनमे से एक ने कहा—'जैनधर्म का मार्ग बहुत कठोर है मुनि बन जाओ, अनशन कर दो और शरीर को सुखा दो। मैं तो बात करते करते ही काप उठता हूँ।' उनकी मुद्रा मे कोई कृत्रिमता नही थी। वे हृदय से बोल रहे थे। यह धारणा केवल उन्ही की नही है, उन जैसे हजारो व्यक्तियो की है। वर्तमान अतीत के आधार पर चलता है और अतीत को वर्तमान के आधार से समझा जाता है। वर्तमान मे जैन लोग तपस्या मे बहुत आगे बढ़ हुए है। उनका कठोर तप सचमुच विस्मयकारी है। वर्तमान के लोग जैन धर्म के इसी स्वरूप से अधिक परिचित है। इसीलिए वे उसे कठोर तपस्या का मार्ग मानते है।

परिवर्तन-क्रम के अनुसार जो गौण होता है वह प्रधान और जो प्रधान होता है वह गौण हो जाता है। भगवान् ने अनशन, उपवास आदि को बाह्य और ध्यान को आन्तरिक तप कहा है किन्तु,

साधना-क्रम मे ध्यान बाह्य और अनशन आन्तरिक जैसा बन गया। 'दीर्घ तपस्वी' का अर्थ दीर्घकाल तक उपवासी हो गया। किन्तु ध्यानयोगी नही रहा।

भगवान् मे उपवास और ध्यान का अपूर्व संगम था। उनका कोई उपवास ऐसा नही है, जिसमे ध्यान की विशेष प्रक्रिया न चली हो। उन्होंने बारह वर्ष और तेरह पक्ष की लम्बी अवधि मे केवल मुहूर्त भर नीद ली। उनका शेष अधिकाश समय ध्यान मे बीता। सोलह दिन-रात तक वे सतत ध्यानशील रहे। इसलिए उनकी स्तुति में कहा गया है—"वे अनुत्तर-ध्यान के आराधक हैं। उनका ध्यान शंख और इन्दु की भाँति परम शुक्ल हैं"। आत्मा की उत्क्राति मे उपवास की अपेक्षा ध्यान की अत्यन्त उपादेयता है। भगवान् शुक्ल ध्यान की विशिष्ट श्रेणी मे थे, उसी समय उन्हे केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ।

भगवान् ने शारीरिक तप भी बहुत तपा। किन्तु उन्होंने उसको ध्यान की कोटि मे कभी नही रखा। उसके अन्तर को इस भाषा मे समझाया कि सात लव के विशिष्ट ध्यान की तुलना दो दिन के उपवास से होती है। उपवास ध्यान की अपेक्षा सरल होते हैं। आहार न करने से देह को कष्ट होता है। उस कष्ट को सहने वाले भी मन को स्थिर रखने मे कठिनाई का अनुभव करते है।

भगवान् ने ध्यान को ऐकान्तिक महत्त्व नही दिया। उपवास की उपेक्षा नही की। जैन दृष्टि मे ध्यान का अर्थ केवल चित्त-वृत्तियों का निरोध ही नही है, दैहिक-प्रवृत्तियों का निरोध भी ध्यान है। प्रवृत्तियाँ तीन हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक।

मन और वाणी का सचालन काया से होता है। उसकी स्थिरता होने पर वाणी और मन की स्थिरता सहज हो जाती है। काया की चचलता मानसिक स्थिरता मे विघ्न है। मन को स्थिर करने के लिए काया को स्थिर करना स्वय प्राप्त है। काया को कष्ट देना कोई उद्देश्य नही है। वह साधन के रूप मे स्वीकृत है। भगवान बुद्ध की दृष्टि मे मन ही पाप का हेतु था। महावीर शरीर को भी उसका हेतु मानते थे। बुद्ध ने केवल ध्यान को पकडा और महावीर ने उपवास और ध्यान दोनो को समरूप मे पकडा।

भगवान ने शरीर को कसा वह एक विशिष्ट साधना थी। उन्होंने सबके लिए उसका विधान नहीं किया। अज्ञानपूर्ण कष्ट सहने मे उनका विश्वास नही था। मूल दृष्टि यह थी कि साधक को अपनी साध्य सिद्धि के लिए यत्न करना चाहिए। उसमे पौद्गलिक सबन्धों के त्याग का प्रमुख स्थान है। आत्मा और पुद्गल का जो सयोग है वह ससार है। आत्मा का जो पुद्गल से मुक्त स्वरूप है वह मुक्ति है।

पुद्गल का परित्याग एक ही साथ हो नही सकता, उसका एक क्रम है। उपवास उसी शृखला की एक कडी है। जैन आगम यही कहते है कि अपने बल और स्थान को देखो, अपनी श्रद्धा और आरोग्य को देखो क्षेत्र और काल को देखो और फिर उन्ही के अनुरूप अपने को धर्म मे लगाओ।

कष्ट दो प्रकार के होते है—आगन्तुक और स्वीकृत।

भगवान् ने यही धर्म-देशना दी कि देह मे जो कष्ट आए उत्पन्न हो, उन्हे सहना धर्म है महान फल देने वाला है। साध्य की

सिद्धि के लिए यह एक महान् सूत्र है। इसके बिना व्यक्ति थोडा सा कष्ट आते ही विचलित हो जाता है। कष्ट को जान-बूझकर स्वीकार करना सामान्य विधि नही है। जैन धर्म का साधना-मार्ग उपवास आदि की दृष्टि से कठोर नही है। उसकी कठोरता का रहस्य है अहिंसा। अहिंसा और ध्यान मूलतः कोई दो तत्त्व नही हैं। आत्म-लीनता ही अहिंसा है और वही ध्यान है। भगवान् बुद्ध की चित्त-विशुद्धि ध्यान के रूप मे विश्रुत है और भगवान् महावीर की वह अहिंसा के रूप मे। आचार्य ने ठीक ही कहा है—"आत्मा का निश्चय करना ही सम्यक् दर्शन है, उसे जानना ही सम्यक् ज्ञान है और उसमे स्थित होना ही सम्यक् चारित्र है।" इससे भिन्न कोई योग नही है। आदि, मध्य और अन्त मे आत्मा ही आत्मा रहे, यही है ध्यान और यही है अहिंसा। भगवान महावीर ने इसी ध्यानयोग से अपने आप को प्राप्त किया था और इसी से उनका महावीरत्व फलित हुआ था। आज उनके अनुगामी-वर्ग को इसे समझना है। और उप-वासों की दीर्घ परम्परा के साथ-साथ ध्यान को भी पुनः महत्त्व देना है। जैन साधना का मार्ग दोनो के समन्वय का मार्ग है, सर्व सुलभ मार्ग है, इसे प्रमाणित करना है।



क्षत्रियकुमार महावीर श्रमण बने। साधना के पथ पर उतर आए। कठोर तप तपा बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक परीषह के पहाड़ों को झेला। इस लम्बी अवधि में सिर्फ दो घड़ी नींद ली। उपवास, ध्यान और आत्म रमण में लीन श्रमण महावीर अब भगवान् महावीर बन गये। उनके कैवल्य-लाभ से पारिपार्श्विक वातावरण जगमगा उठा। दीर्घ तपस्वी भगवान अब तीर्थङ्कर बने। चार तीर्थों की स्थापना की। साधु, साध्वी श्रावक श्राविका—ये चार तीर्थ कहलाए। सम्यग ज्ञान, दर्शन और चारित्र की पावन त्रिवेणी मे नहाने के लिये जनता उमड़ पड़ी। त्याग और तपस्या के तीखे बाण भगवान के शिष्य परिवार को घायल नहीं कर सके। महात्मा बुद्ध मध्यम मार्ग के प्रवर्तक थे। तपस्वी और परिव्राजक की कठोर चर्या बहिरंग थी। भगवान महावीर दोनों से निराले चले। न अनुशासन को ढीला किया और न पंचाग्नि तप जैसे हिंसक यातनाओं को अपनाया। मुक्ति की अपेक्षा आत्मा को है वह शरीर से बंधी है। बंधन को काटना है। शरीर छोड़ना है।

शरीर छूटे और ऐसा छूटे कि फिर न मिले। विदेह बनाने का रास्ता है आत्मा तपे, देह तपे, किन्तु दूसरे को न तपना पडे। जिसकी वृत्ति से दूसरे को तपना पडे, वह खपा सही, किन्तु उसने तप नही तपा।

चर्या के नियमों को शिथिल करने का अर्थ है—सघ की एक-सूत्रता का विघटन, साधना का व्यामोह। भगवान् महावीर की अन्तरग साधना ने अहिंसा दी और तीर्थ-प्रवर्तन ने अनुशासन दिया, ये दोनो उनके तपस्वी जीवन के समतल पहलू हैं।

अहिंसा प्रकाश मे आई, उसके लिए भगवान् महावीर की स्मृति आज भी होती है, किन्तु दूसरा पहलू अब भी प्रकाश से दूर है। सच तो यह है कि पहले अनुशासन है पीछे अहिंसा। अहिंसा आचरण है, पाली जाती है। स्वार्थ पर अनुशासन चाहिये। जो परमार्थ पर चले, उसके लिये अनुशासन क्यों? उसकी आत्मा स्वयं अनुशासक होनी चाहिये। आत्मानुशासन नही तो फिर साधक कैसा? साधक को इसी मजिल पर पहुँचना है। किन्तु क्या यह सम्भव है, आज चले और आज ही पहुँच जाय? मार्ग लम्बा है, चलना बहुत है। मार्ग सही रहे, दिग्व्यामोह न आए, इसलिए अनुशासन चाहिए, थोपा हुआ नही किन्तु रमा हुआ।

भगवान् ने कहा—"साधना गांव मे भी की जा सकती है और जंगल मे भी। साधक अकेला भी रह सकता है और संघ मे भी।" अकेले रहने की विशेष मर्यादा है। नव पूर्व और दशवें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु का ज्ञान हो जाय, वह अकेला रह सकता है,

दूसरा नही। वह स्वयं आगम है—शास्त्र है। वह शास्त्र के अनुशासन से शासित नही स्व-शासित होता है। उससे पहले साधक को शास्त्र के अनुशासन मे चलना होता है। साधक का काम है अनुशासन पर चले। उसे बदले यह उसका अधिकार नही। बदलने में पूर्णता चाहिए।

बुद्धि, तर्क और युक्ति पर विश्वास होता है और होना चाहिए। किन्तु साधक का सर्वोपरि विश्वास होता है अनुशासन पर। सत्य प्रतिज्ञा व्यवहार (सच्चपइण्णाव्यवहार) साधु के लिए दिग्सूचकयंत्र का काम करता है। नीति की शुद्धि और सत्य का आग्रह होना चाहिए। साधक को जहाँ अप्रतिज्ञ (आग्रहहीन) होने की शिक्षा दी—वहाँ सत्य की प्रतिज्ञा (सत्य के आग्रह) का भी निर्देश किया।

भगवान के प्रमुख शिष्य गौतम ने प्रश्न पूछा और भगवान् ने उत्तर दिया। गौतम ने आश्चर्य के स्वर मे कहा—' भगवन्! क्या यह ऐसे है।" भगवान् ने उत्तर दिया—' हाँ यह ऐसे ही है।"

गौतम ने कहा— कोई तत्व समझने मे न आए तब वीतराग जो कहे वह सत्य है नि शक है ऐसा मानना क्या उचित है ?"

भगवान् ने कहा— हाँ उचित है।'

यह एक ऐसा संवाद है जो बुद्धिवादी के गले न भी उतर सके, किन्तु अध्यात्मवादी के लिए बड़े महत्व का है। हाल ही में खुदाबक्स के अमेरिका मे किए गए आध्यात्मिक प्रयोग विज्ञान के लिये असम्भव हो सकते हैं किन्तु योगी के लिए वे नगण्य है। अध्यात्म और योग के मार्ग मे श्रद्धा या अनुशासन तक बुद्धि से अगम्य है।

गणपति उसे बनाना चाहिए जो 'सड्ढी' (श्रद्धालु) हो। देह त्याग के लिए अनशन वही कर सकता है जो 'सड्ढी' होता है। श्रद्धी 'सड्ढी' वह है जो आत्मविश्वास और मानसिक एकाग्रता लिए चले। विश्वास जमे ही नही, मन केन्द्र न चुन सके, उसकी सारी शक्ति विकसित होने से पूर्व ही नष्ट हो जाती है। विश्वास शक्ति का स्रोत है, एकाग्रता शक्ति का कोष है। विश्वास बढे, एकाग्रता बढे, तब विकास का मार्ग खुलता है। इस भूमिका मे पहुँचकर साधक एक नई दिशा पाता है।

जिस अनुशासन से दास्य भाव आए, वह गलत अनुशासन है या गलत शिष्यत्व। अनुशासन आत्मा के गुरुत्व की कसौटी है। उससे लाघव नही मिलता। साधक के लिए इन्द्रिय-जय और मनोविजय से बढकर और कोई गौरव नही होता। लघुता लाने को अनुशासन आए, वह बलात्कार है जिससे कुछ बनता नही, बिगडता है।

देश, काल की गति को देखकर आज के सुधारक मुनि चर्या मे परिवर्तन चाहते हैं। भावना स्वाभाविक है, किन्तु कार्य सीधा नही। कितना बदल जाए ? बदलने के बाद एकसूत्रता का दायित्व कौन सभाले ? यहाँ समस्याएं घुलती हैं। दूसरे, अपरिवर्तनीयता मे श्रद्धा का भाव जो रूप लेता है, वह परिवर्तनीयता मे नही लेता। एक के बाद दूसरे, छोटे के बाद बड़े को तोडने की क्रमिक मनोवृत्ति बनती जाती है। आखिर मूल को एक खतरा दीखने लगता है। इसलिए चर्या के मौलिक नियम को चाहे वह छोटा और अनुपयोगी सा लगता हो, तोडने की कल्पना तक मत करो।

बाहरी अनुशासन मे दूसरे का भय होता है, दूसरा देखे तब नहीं किया जावे। परन्तु दृष्टि चुराकर या एकान्त मे किया जाए, वह

बाहरी अनुशासन है। अन्तरंग अनुशासन की मर्यादा में कोई देखे या न देखे विजन या जनाकीर्ण का भेद नहीं होता। इसलिए वह 'अकुतोभय' होता है। अनुशासन शास्त्र का या आचार्य का होता है। फिर भी शिष्य उसे आत्म हितार्थ मानता है। आत्म-साक्षी से पालता है इसलिए वह वास्तव में परानुशासित न होकर आत्मानुशासित ही होता है।

भय रखो किसी व्यक्ति या शास्त्र का नहीं, अपनी अधोगति का। अनुशासन को तोड़नेवाला, सत्य को असत्य या असत्य को सत्य स्थापित करने वाला अनन्त संसार में चक्कर काटता है। इसलिए अनुशासन पालने में आत्मा को ही साक्षी किए चलो।

अनुशासन किसका मानें श्रद्धा किस पर टिकाएं इसका भार व्यक्ति व्यक्ति की बुद्धि उठा सकती है। किन्तु व्यक्ति के पास देने को श्रद्धा और लेने को अनुशासन होना चाहिए। सही अर्थ में अनुशासन वह है जो श्रद्धा से दिल में उतर आये। श्रद्धा वह है जो सहज ही टिक जाए।

भगवान ने अपने शिष्य समुदाय को उपदेश देते हुए कहा—' अनुशासन बुराई का प्रतिकार है। प्राज्ञ उसे हित मानता है और असाधु उससे क्रोधी बनता है।" आचारांग दशवैकालिक (अ० ६) और उत्तराध्ययन (अ० १) में इसकी विशद विवेचना है। एक शब्द में भगवान् महावीर के धर्म का मूल ही विनय है। विनय का अर्थ है आचार विनय का अर्थ है अनुशासन और विनयी का अर्थ है नम्रभावी। नम्रता अनुशासन लाएगी और अनुशासन आचार लाएगा। भगवान् महावीर ने ज्यों साधना को आचार मूलक बताया त्यों आचार को अनुशासन-मूलक बताकर संघ को सम सूत्रता की ऐसी नींव डाली जिसमें आज भी आधार की क्षमता है।

आत्म-जिज्ञासा की सम्पूर्ति

भगवान् महावीर आत्म-साक्षात्कार के महान् प्रवर्तक थे। आत्म-साक्षात्कार अर्थात् सत्य का साक्षात्कार। सत्य का उप-देश वही दे सकता है, जो उसका साक्षा-त्कार कर पाता है। भगवान सत्य के अनत रूपों के द्रष्टा थे। पर जितना देखा जाता है, उतना कहा नही जा सकता। भगवान् ने जिन सत्यों का निरूपण किया, वे भी हमे पूर्णत. ज्ञात नही है। मनुष्य जितना ज्ञात की ओर झुकता है, उतना अज्ञात की ओर नही। भगवान् महावीर ने अहिंसा, सत्य आदि का उपदेश दिया, जातिवाद का खण्डन किया, यज्ञ-हिंसा का विरोध किया आदि-आदि। जो ज्ञात तथ्य हैं, वे ही उनकी गुण-गाथा मे गाये जाते है। किन्तु भगवान् ने जीवन क ऐसे अनेक ध्रुव सत्यों पर प्रकाश डाला, जिन पर हमारा ध्यान सहज ही आकृष्ट नही होता। वे हमारे लिए ज्ञात होकर भी अज्ञात है। अज्ञात को पकडने मे जो कठिनाई होती है, उससे कही अधिक कठिनाई होती है, उसे पकडने मे जो ज्ञात होकर भी अज्ञात होता है।

आत्मा देह से भिन्न है, आत्मा ही परमात्मा है यह हमें ज्ञात है। फिर भी हम इस सत्य को तब तक नहीं पाते जब तक हम स्वयं सत्यरूप नहीं बन जाते। भगवान् महावीर का सबसे श्रेष्ठ उपदेश यही है कि तुम स्वयं सत्यरूप बनकर सत्य को पकड़ो। वह तुम्हारी पकड़ में आ जाएगा। तुम असत्यरूप रहकर उसे नहीं पा सकोगे।

'दुःख कामना से उत्पन्न होता है'—यह जानता हुआ भी मनुष्य दुःख मिटाने के लिए कामना के जाल में फंसता है। वैर वैर से बढ़ता है यह जानता हुआ भी मनुष्य वैर को बढ़ावा देता है। शस्त्र अशान्ति को उत्तेजित करता है—यह जानता हुआ भी मनुष्य शान्ति के लिये शस्त्र का निर्माण करता है। भगवान् ने कहा—दुःख का पार वही पा सकता है जो कामना को जानता है और उसे छोड़ना भी जानता है। वैर का पार वही पा सकता है जो वैर के परिणाम को जानता है और उसे छोड़ना भी जानता है। शस्त्र का पार वही पा सकता है जो अशान्ति को जानता है और उसे छोड़ना भी जानता है। भगवान की भाषा में वह ज्ञान ज्ञान नहीं जो त्याज्य को त्याग न सके। उनका ज्ञान भी आत्मा है दर्शन भी आत्मा है और चारित्र भी आत्मा है। भगवान् का सारा धर्म आत्ममय है। उनका सारा उपदेश आत्मा की परिक्रमा में है। इसलिए जो कोई आत्मयोगी होता है जिसमें आत्म जिज्ञासा या आत्मोपलब्धि की भावना प्रबल हो जाती है उनके लिए भगवान् महावीर की वाणी का पकड़ना अनिवार्य या सहज प्राप्त हो जाता है।

अहिंसा और धर्म

महावीर श्रमण-परम्परा मे अवतीर्ण हुए। उन्होने निर्ग्रन्थ दीक्षा स्वीकार की। भगवान् ऋषभ ने धर्म की स्थापना की। मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों ने चातुर्याम-धर्म की व्याख्या की। भगवान् महावीर ने पुन पचयाम धर्म की स्थापना की। इसका कारण यह बतलाया गया है कि प्रथम तीर्थङ्करो के साधु ऋजु-जड थे, इसलिए पचयाम की व्याख्या की गई—ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पृथक्-पृथक् महाव्रत माने गए। मध्यवर्ती वाईस तीर्थङ्करो क साधु ऋजु-प्राज्ञ थे, इसलिए चातुर्याम से काम चल गया। ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही शब्द 'वहिद्धादाण विरमण' मे संग्रहीत कर लिया गया। भगवान् महावीर के शिष्य वक्र जड हुए, इसलिए उन्हे पुन भगवान् ऋषभ का अनुशरण करना पडा। यह युक्ति सुन्दर है फिर भी इस व्यवस्था-भेद का मूल कारण यही है, यह समझने मे कठिनाई है। यह बहुत ही मीमासनीय विषय है। जिस प्रकार अहिंसा-धर्म के लिए सब तीर्थङ्करो को एक सूचना बतलाई है, उसी प्रकार अन्य धर्मों की नही बतलाई।

इसका कारण क्या है ? या तो अहिंसा मे शेष सारे धर्मों को वे समाहित कर लेते थे अथवा कोई दूसरा कारण था। निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता। जनधर्म मे आचार का स्थान बहुत प्रमुख रहा है। एक दृष्टि से उसे अचार एव नीति-धर्म प्रवर्तक कहा जा सकता है। जीवन की सारी प्रवृत्तियों की व्याख्या एक अहिंसा शब्द के आधार पर की जा सकती है सभव है इस दृष्टि से ही अहिंसा सब तीर्थङ्करों का समान धर्म माना गया हो। यह कहने मे कोई

अत्युक्ति नही है कि जनधर्म जो है वह अहिंसा है और जो अहिंसा है वह जैनधम है।

अहिंसा और सत्य

कुछ विद्वान ऐसा सोचते है कि जैनाचार्यों ने अहिंसा पर जितना बल दिया उतना सत्य पर नही। यह उनका अपना दृष्टिकोण है, इसलिए उनकी अवहेलना तो कैसे की जाए, पर उनके सामने दूसरा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा सकता है। भगवान् महावीर की दृष्टि मे अहिंसा और सत्य मे कोई द्वत नही है। आत्मा की पूर्ण अवस्था—परमात्मा रूप जो है वह अहिंसा है। सत्य उससे भिन्न कहाँ है ? जहाँ सत्य है वहाँ निश्चित रूपेण अहिंसा है और जहाँ असत्य है, वहाँ अहिंसा भी नही है। सत्य अहिंसा के परिकर मे ही प्रकट होता है और अहिंसा सत्य के ही साथ चलती है। तो हम नही कह सकते कि जहाँ अहिंसा है वहाँ सत्य नहीं है और जहाँ सत्य है वहा अहिंसा नही है। ये दोनों परस्पर इस प्रकार व्याप्त हैं कि इन्हें द्वत की दृष्टि से नही देखा जा सकता।

जैन धर्म और सत्य

कोई भी वस्तु प्राचीन होती है इसलिए अच्छी नही होती और नई होती है इसलिए बुरी नही होती। जैन धर्म पुराना है इसलिए अच्छा है यह कोई तर्क नहीं है। फिर भी इसमे कोई सन्देह नही वह बहुत पुराना है—और इतना पुराना है कि इतिहास की वहाँ तक पहुँच ही नहीं। भगवान् महावीर और भगवान् पार्श्व इतिहास की

परिधि मे आते हैं। भगवान् अरिष्टनेमि और उनसे पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर इतिहास की परिधि से अस्पृष्ट है।

वही आत्मा का सहज गुण होता है, जो सत्य का सीधा स्पर्श करे। जैन-धर्म बाह्य-विस्तार की दृष्टि से बहुत व्यापक नही है। फिर भी वह महान् धर्म है और इसलिए है कि वह सत्य के अन्तस्तल का सीधा स्पर्श करता है।

सत्य की मीमांसा

सत्य क्या है ? यह प्रश्न अनादि काल से चर्चित रहा है। जो स्थित है, वह सत्य है पर वही सत्य नही है। परिवर्तन प्रत्यक्ष है। उसे असत्य नही कहा जा सकता। जो परिवर्तन है, वह सत्य है पर वही सत्य नही है। स्थिति के बिना परिवर्तन होता ही नही। जो दृश्य है वह सत्य है, पर वह भी सत्य है जो दृश्य नही है। सत्य के अनेक रूप हैं। एक रूप अनेकरूपता का अश रहकर ही सत्य है। उससे निरपेक्ष होकर वह सत्य नही है। सत्य किसी धर्म-प्रवर्तक द्वारा कृत्य नही है। वह सहज है, अकृत है। वह धर्म-प्रवर्तक के द्वारा अज्ञात से ज्ञात और अनुद्घाटित से उद्घाटित होता है। भगवान् महावीर ने कहा—सत्य वही है, जो वीतराग के द्वारा प्ररूपित है। सत्य एक और अविभाज्य है। जो सत् है, जिसका अस्तित्व है, वह सत्य है। यह परम अभेद दृष्टि है। इस जगत् मे चेतन का भी अस्तित्व है और अचेतन का भी अस्तित्व है। इसलिए चेतन भी सत्य है और अचेतन भी सत्य है। मनुष्य चेतन है, स्वय सत्य है फिर भी उसका चेतन से सीधा सम्पर्क नही है।

अत्युक्ति नहीं है कि जैनधर्म जो है वह अहिंसा है और जो अहिंसा है वह जैनधर्म है।

अहिंसा और सत्य

कुछ विद्वान् ऐसा सोचते है कि जैनाचार्यों ने अहिंसा पर जितना बल दिया उतना सत्य पर नहीं। यह उनका अपना दृष्टिकोण है इसलिए उनकी अवहेलना तो कैसे की जाए, पर उनके सामने दूसरा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा सकता है। भगवान् महावीर की दृष्टि मे अहिंसा और सत्य मे कोई द्वैत नहीं है। आत्मा की पूर्ण अवस्था—परमात्मा रूप जो है वह अहिंसा है। सत्य उससे भिन्न कहाँ है? जहाँ सत्य है वहाँ निश्चित रूपेण अहिंसा है और जहाँ असत्य है, वहाँ अहिंसा भी नहीं है। सत्य अहिंसा के परिकर मे ही प्रकट होता है और अहिंसा सत्य के ही साथ चलती है। सो हम नहीं कह सकते कि जहाँ अहिंसा है वहाँ सत्य नहीं है और जहाँ सत्य है वहाँ अहिंसा नहीं है। ये दोनों परस्पर इस प्रकार व्याप्त है कि इन्हें द्वैत की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

जैन धर्म और सत्य

कोई भी वस्तु प्राचीन होती है इसलिए अच्छी नहीं होती और नई होती है इसलिए बुरी नहीं होती। जैन धर्म पुराना है इसलिए अच्छा है यह कोई तर्क नहीं है। फिर भी इसमे कोई सन्देह नहीं वह बहुत पुराना है—और इतना पुराना है कि इतिहास की वहाँ तक पहुँच ही नहीं। भगवान् महावीर और भगवान् पार्श्व इतिहास की

परिधि मे आते हैं। भगवान् अरिष्टनेमि और उनसे पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर इतिहास की परिधि से अस्पृष्ट है।

वही आत्मा का सहज गुण होता है, जो सत्य का सीधा स्पर्श करे। जैन-धर्म बाह्य-विस्तार की दृष्टि से बहुत व्यापक नही है। फिर भी वह महान् धर्म है और इसलिए है कि वह सत्य के अन्तस्तल का सीधा स्पर्श करता है।

सत्य की मीमांसा

सत्य क्या है ? यह प्रश्न अनादि काल से चर्चित रहा है। जो स्थित है, वह सत्य है पर वही सत्य नही है। परिवर्तन प्रत्यक्ष है। उसे असत्य नही कहा जा सकता। जो परिवर्तन है, वह सत्य है पर वही सत्य नही है। स्थिति के बिना परिवर्तन होता ही नही। जो दृश्य है वह सत्य है, पर वह भी सत्य है जो दृश्य नही है। सत्य के अनेक रूप हैं। एक रूप अनेकरूपता का अश रहकर ही सत्य है। उससे निरपेक्ष होकर वह सत्य नही है। सत्य किसी धर्म-प्रवर्तक द्वारा कृत्य नही है। वह सहज है, अकृत है। वह धर्म-प्रवर्तक के द्वारा अज्ञात से ज्ञात और अनुद्घाटित से उद्घाटित होता है। भगवान् महावीर ने कहा—सत्य वही है, जो वीतराग के द्वारा प्ररूपित है। सत्य एक और अविभाज्य है। जो सत् है, जिसका अस्तित्व है, वह सत्य है। यह परम अभेद दृष्टि है। इस जगत् मे चेतन का भी अस्तित्व है और अचेतन का भी अस्तित्व है। इसलिए चेतन भी सत्य है और अचेतन भी सत्य है। मनुष्य चेतन है, स्वय सत्य है फिर भी उसका चेतन से सीधा सम्पर्क नही है।

और इसलिए नहीं कि राग एवं द्वेष उनका सत्य से सीधा सम्पर्क होने में बाधा डाले हुए हैं। राग-रंजित मनुष्य आसक्ति की दृष्टि से देखता है इसलिये सत्य उसके सामने अनावृत्त नहीं होता। द्वेष-रंजित मनुष्य घृणा की दृष्टि से देखता है इसलिए सत्य उससे भय खाता है। सत्य उसी के सामने अनावृत्त होता है जो तटस्थ दृष्टि से देखता है। तटस्थ दृष्टि से वही देख सकता है, जिसके नेत्र आसक्ति और घृणा से रंजित नहीं होते।

सत्य के दो रूप—अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद

भगवान् महावीर वीतराग थे। सत्य से उनका सीधा सम्पर्क था। उन्होंने जो कहा वह सुना सुनाया या पढ़ा पढ़ाया नहीं कहा। उन्होंने जो कहा वह सत्य से सम्पर्क स्थापित कर कहा। इसलिए उनकी वाणी यथार्थ का रहस्योद्घाटन और आत्मानभूति का ऋजु उद्‌बोधन है। जो सत्य है वह अनुपयोगी नहीं है पर उसके कुछ अंश विशेष उपयोगी होते हैं। हम परिवर्तनशील संसार में रहने वाले हैं अत कोरे अस्तित्ववादी ही नहीं, किन्तु उपयोगितावादी भी हैं। हम सत्य को कोरा यथार्थवादी दृष्टिकोण ही नहीं मानते किन्तु यथार्थ की उपलब्धि को भी सत्य मानते हैं।

आत्मा है और प्रत्येक आत्मा परमात्मा है—यह दोनों अस्तित्ववादी या यथार्थवादी दृष्टिकोण हैं। आत्मा की परमात्मा बनने की जो साधना है वह हमारा उपयोगितावाद है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से भगवान् ने कहा—आत्मा भी सत्य है और अनात्मा भी सत्य है। उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भगवान् ने कहा—आत्मा ही सत्य है

शेष सब मिथ्या है। पहला द्वैतवादी दृष्टिकोण है और दूसरा अद्वैतवादी। भगवान् महावीर अखण्ड सत्य को अनन्त दृष्टिकोण से देखने का सदेश देते थे। अनेकान्त दृष्टि से अद्वैत भी उनके लिए उतना ही ग्राह्य था जितना कि द्वैत और एकान्त दृष्टि से द्वैत भी उनके लिए उतना ही अग्राह्य था जितना कि अद्वैत। वे अद्वैत और द्वैत दोनों को एक ही सत्य के दो रूप मानते थे।

अस्तित्ववादी दृष्टिकोण

यह विश्व अनादि और अनन्त है। इसमे जितना पहले था, उतना ही आज है और जितना आज है, उतना ही आगे रहेगा। उसमे एक भी परमाणु नही घटता है और न बढ़ता है। कुछ घटता-बढ़ता सा लगता है, वह सब परिवर्तन है। परिवर्तन की दृष्टि से यह विश्व सादि और सान्त है।

यह विश्व शाश्वत है। इसमे जो मूलभूत तत्व है, वे सब अकृत है। सृष्टिकर्त्ता न कोई था, न है और न होगा। सब पदार्थ अपने अपने भावों के कर्त्ता है। कुछ वस्तुएँ जीव और पुद्गल के सयोग से कृत भी है। कृत्रिम वस्तुओं की दृष्टि से यह विश्व अशाश्वत भी है मूलभूत तत्त्व की दृष्टि से विश्व शाश्वत है और तद्गत परिवर्तन की दृष्टि से वह अशाश्वत है।

यह विश्व अनेक है। इसमे चेतन भी हैं, अचेतन भी है। चेतन व्यक्तिशः अनन्त हैं। अचेतन के पांच प्रकार है—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। प्रथम चार व्यक्तिश. एक है। पुद्गल

व्यक्तिश अनन्त है। अस्तित्व की दृष्टि से सब एक है। इसलिए यह विश्व भी एक है।

उपयोगितावादी दृष्टिकोण

(१) आत्मा

(२) परमात्मा

आत्मा है। वह अपने प्रयत्न से परमात्मा बन सकता है। यह उपयोगितावादी दृष्टिकोण है। भगवान् ने कहा—बन्धन भी है और मुक्ति भी है। जिस प्रवृत्ति से आत्मा और परमात्मा की दूरी बढ़ती है वह बन्धन है और जिससे उनकी दूरी कम होती है वह मुक्ति है। मिथ्या दृष्टिकोण मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र इनसे आत्मा बन्धता है। सम्यग दृष्टिकोण सम्यग् ज्ञान और सम्यक चारित्र—इनसे आत्मा मुक्त होता है परमात्मा बनता है।

परमात्मा पूर्ण सत्य है और आत्मा अपूर्ण सत्य। आत्मा का अन्तिम विकास परमात्मा है। जब तक आत्मा अपने अन्तिम विकास तक नहीं पहुँचता, तब तक वह अपूर्ण रहता है। अन्तिम स्थिति तक पहुंचते ही वह पूर्ण हो जाता है इसलिए यह सही है कि आत्मा अपूर्ण सत्य है, पूर्ण सत्य है परमात्मा। आत्मा परमात्मा का बीज है और परमात्मा आत्मा का पूर्ण विकास। बीज और विकास—ये दो भिन्न स्थितियां है, किन्तु भिन्न तत्त्व नहीं। आत्मा और परमात्मा ये दो एक ही तत्त्व के दो भिन्न रूप है किन्तु आत्मा के उत्तर रूप से भिन्न किसी परमात्मा और परमात्मा के पूर्वरूप से भिन्न किसी आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। उनके मौलिक एकत्व

की दृष्टि से भगवान् ने कहा—"जो आत्मा है, वही परमात्मा है और जो परमात्मा है, वही आत्मा है।" स्थिति-भेद की दृष्टि से भगवान् ने कहा—"चेतन का जो अविकसित या अपूर्णरूप है, वह आत्मा है और जो विकसित या पूर्णरूप है, वह परमात्मा है। ये दोनों एक ही चेतन व्यक्ति की दो भिन्न अवस्थाएं हैं।"

अध्यात्म और धर्म

भगवान् महावीर ने आत्मा और परमात्मा में वास्तविक एकता की स्थापना की। इससे अनेक सत्यों का प्रकाशन हुआ—

(१) आत्मा का स्वतन्त्र कर्तृत्व।

(२) आत्मा का स्वतन्त्र भोक्तृत्व।

अध्यात्मवाद और पुरुषार्थवाद इन्हीं के फलित हैं और आधार पर भगवान् ने धर्म को बाहरी कर्मकाण्डों से उबारकर बना दिया। उनकी भाषा में—आत्मा से परमात्मा बनने प्रक्रिया है, वही धर्म है। सम्प्रदाय, वेष, बाह्यकर्मकाण्ड आदि उपकरण हो सकते हैं, पर धर्म नहीं।

धर्म आत्मा की ही एक परमात्मोन्मुख अवस्था है। उसे शुद्धावस्था भी कहा जा सकता है। भगवान् ने कहा—"धर्म शुद्ध आत्मा में स्थित होता है।" इसका अर्थ है आत्मा की जो शुद्धि है, वही धर्म है। आत्मा और पुद्गल की मिश्रित अवस्था है, वह अशुद्धि है और आत्मा की पुद्गल-असम्मिश्रित अवस्था है, वह शुद्धि है। जो शुद्धि है, वही धर्म है।

सम्प्रदाय और धर्म

भगवान महावीर ने तीर्थ की स्थापना की। साधना का सामुदायिक रूप दिया फिर भी वे सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न भिन्न मानते थे। उन्होंने कहा—"एक व्यक्ति सम्प्रदाय को छोड देता है पर धर्म को नही छोड़ता। एक व्यक्ति धर्म को छोड देता है पर सम्प्रदाय को नही छोडता। एक व्यक्ति दोनो को छोड देता है और एक व्यक्ति दोनों को नही छोडता।" सम्प्रदाय धर्म की उपलब्धि में सहायक हो सकता है। इस दृष्टि से उन्होने संघ रचना को महत्व दिया। किन्तु धर्म को सम्प्रदाय से आवृत्त नहीं होने दिया। उन्होंने कहा—जो दार्शनिक लोग कहते है कि हमारे सम्प्रदाय मे आओ तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नही, वे भटके हुए है और वे भी भटके हुए है जो अपने अपने सम्प्रदाय की निन्दा करते है। धर्म की आराधना सम्प्रदायातीत होकर—सत्याभिमुख होकर ही की जा सकती है। सम्प्रदाय एक साधन है, जीवन यापन की परस्परता या सहयोग है। वह व्यक्ति को प्रेरित कर सकता है, किन्तु वह स्वयं धर्म नही है। सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न भिन्न मानने वाले साधक के लिये सम्प्रदाय धर्म प्रेरक होता है धर्म-साधक नहीं।

व्यक्ति और समुदाय

भगवान महावीर तीर्थङ्कर थे—साधना के सामुदायिक रूप के महान् सूत्रधार थे। दूसरे पार्श्व मे वे पूर्ण व्यक्तिवादी थे। उन्होने कहा—'आत्मा अकेला है। वह अपने आप मे परिपूर्ण है। संज्ञा और वेदना भी उसकी अपनी होती है।' समुदाय का अर्थ

नैमित्तिक भाव है। सहयोग या परस्परावलम्बन से शक्ति उत्पन्न होती है। उसका सविभक्त उपयोग ही समुदाय है। भगवान् ने कहा—"कोई एक व्यक्ति सबके लिए पाप कर्म करता है, उसका परिणाम उसी को भोगना पडता है।" इसका अर्थ है कि पाप-कर्म करते समय व्यक्ति का दृष्टिकोण सदा व्यक्तिवादी ही होना चाहिए और शक्ति-सम्पादन के लिए समुदायवादी दृष्टिकोण। समुदायवाद नास्तिकता भी है। यदि उसका उपयोग इस अर्थ मे किया जाय कि मैं वही करूंगा, जो सब लोग करते है। अच्छाई और बुराई का विचार किए विना केवल "सर्व" का अनुसरण करना नास्तिकता है अर्थात् अपनी आत्म-शून्यता है। व्यक्ति अर्थ की सत्ता के जगत् मे पूर्णत व्यक्त है और निमित्त जगत् मे पूर्णत. सामुदायिक है। कोई भी जीवित व्यक्ति केवल व्यक्ति या केवल समुदायिक नहीं होता। अध्यात्म का अन्तिम विन्दु यही होता है कि वहाँ पहुँच कर व्यक्ति निमित्त जगत् से मुक्त हो जाता है, कोरा व्यक्ति रह जाता है

स्वतन्त्र सत्ता और अध्यात्म

भगवान् महावीर आत्मवादी थे। उनकी भाषा मे आत्मा परिपूर्ण है। उसका अस्तित्व पर-निर्भर नही किन्तु स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्र सत्ता का बोध ही अध्यात्म है। मनुष्य जितने अर्थ मे परिस्थिति का स्वीकार करता है, उसे भरता है, उतने ही अर्थ मे वह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व से खाली हो जाता है। यह खाली होने की स्थिति भौतिकता है। जो कोई आध्यात्मिक बनता है, वह वाहर से कुछ लेकर नही बनता, किन्तु वाहर से जो लिया हुआ है, उसे

पुन बाहर फेंककर बनता ह। अपूर्णता जो है वह भीतर म नहीं है किन्तु बाहर का जो स्वीकार ह वही अपूर्णता ह। उस अस्वीकार करते ही मनुष्य देख सकता ह कि वह परिपूर्ण है। भगवान् न इसी अर्थ मे कहा था कि आत्मा ही सुख-दुख का कर्त्ता ह और आत्मा ही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु। जा आत्मा को जानता ह वह परिस्थिति से मुक्त होन का उपाय जानता है। जो आत्मा म रमण करता है वह परिस्थति क चक्र व्यूह स मुक्त हो जाता है। अन्त दृष्टि से उसको इन्द्रिय और मन निरपेक्ष जो स्थिति ह वही अध्यात्म ह। बहिर्जगत् की दृष्टि से परिस्थिति से मुक्त होन को स्थिति है वह अध्यात्म ह। आत्मा परिस्थिति या किसी बाहरी सत्ता पर निर्भर नही है इसीलिए उसका अस्तित्व स्वतन्त्र ह। उसका अस्तित्व स्वतन्त्र ह इसीलिए उसका कर्तृत्व भी स्वतन्त्र ह।

स्वावलम्बन

साधना और आत्म निर्भरता दोनों सम्बन्धित है। जितनी आसक्ति उतनी पर निर्भरता जितनी पर निर्भरता उतनी विवशता। साधना का मुख स्ववशता की ओर ह। भगवान ने कहा— साधना गाँव मे ही हो सकती है और अरण्य मे भी। वह गाँव मे भी नहीं हो सकती और अरण्य मे नही। भगवान् बाहरी निमित्तो या स्थितियों की उपेक्षा नहीं करते थे, किन्तु आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता के प्रतिपादक होने के कारण वे बाहरी निमित्तों को अतिरिक्त स्थान भी नही देते थे। साधु को सामुदायिक जीवन बिताने की छूट थी, पर साथ साथ यह भी कहा कि वह समुदाय मे रहताहुआ भी

अकेला रहे। अकेला अर्थात् शुद्ध। बहुत अर्थात् अशुद्ध। जो अकेला होता है, वह सशुद्ध होता है और जो संशुद्ध होता है, वह अकेला होता है। घर मे रहकर भी अकेला रहने की स्थिति को भगवान् ने बहुत प्रबल बनाया। यह साधना का बहुत ही प्रखर रूप है। इस स्थिति मे अहिंसा की तेजस्विता प्रकट होती है।

स्थिति को जितना अधिक स्वीकार होता है, उतनी ही सहायता अपेक्षित होती है। जैसे-जैसे स्थिति का दबाव कम होता चला जाता है, वैसे वैसे व्यक्ति सहायता-निरपेक्ष होता चला जाता है। एक दिन व्यक्ति अपने को सहायता से मुक्त कर लेता है। एक व्यक्ति सहायता न मिलने पर असहाय होता है। यह परतन्त्रता की स्थिति है। एक व्यक्ति अपने को सहायता से मुक्त कर असहाय होता है। यह पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति है। इसे भगवान् ने बहुत महत्व दिया। शिष्य ने पूछा—भगवन्! सहायता का त्याग करने से क्या होता है? उत्तर मिला—अकेलापन प्राप्त होता है। जिसे अकेलापन प्राप्त हो जाता है वह कलह, कषाय, तू-तू, मैं-मैं से मुक्त हो जाता है। उसे संयम, संवर और समाधि प्राप्त होती है।

भगवान् महावीर का स्वावलम्बन निमित्तों की दृष्टि से उपकरण, आहार और देह त्याग तक तथा आन्तरिक स्थिति की दृष्टि से प्रवृत्ति और कषाय-त्याग तक पहुँचता है। भगवान् आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता के जगत् से बोलते थे, इसलिए उन्होंने यही कहा—"जो व्यक्ति उपकरण आदि बाहरी और कषाय आदि भीतरी बन्धनों से मुक्त होता है, वही पूर्ण अर्थ मे स्वावलम्बी होता है।"

गार्हस्थ्य और सन्यास

भगवान् महावीर सन्यास-धर्म के समथकों मे प्रमुख थे। उनकी भाषा मे सन्यास का अथ था अहिंसा। वह जीवन मे हो तो गृहस्थ वेष मे भी कोई सन्यासी हो सकता है और यदि वह न हो तो साधु के वेष मे भी कोई सन्यासी नही हो सकता। अहिंसा और सन्यास ये दोनों पर्यायवाची है। भगवान् ने एक प्रश्न उपस्थित किया कि गृह मे रहना कौन चाहेगा? इसका अर्थ है हिंसा मे रहना कौन चाहेगा?

भगवान् ने कहा — कुछ भिक्षुओं से गृहस्थ अच्छा होता है। उनका सयम प्रधान होता है—अहिंसा विकसित होती है। जिसका सयम पूर्ण परिपक्व होता है अहिंसा पूर्ण विकसित होती है वह भिक्षु सब गृहस्थो से श्रेष्ठ होता है। उनका सन्यास किसी वेष भूषा या बाहरी उपकरण मे बन्धा हुआ नहीं था। वह उन्मुक्त था। इसी लिए उन्होने कहा—गृहस्थ के वेष मे भी वह व्यक्ति परमात्मा बन सकता है जो अहिंसा के चरम विकास तक पहुंच जाता है। वेष और धर्म के निश्चित सम्बन्ध को उन्होंने कभी मान्य नही किया। उनकी वाणी है: —

> एक व्यक्ति रूप को छोड देता है धर्म को नही छोडता है।
> एक व्यक्ति रूप को नही छोडता धर्म को छोड देता है।
> एक व्यक्ति दोनों को नहीं छोडता।
> एक व्यक्ति दोनों को छोड देता है।

गृहस्थी का त्याग ममत्व-विसर्जन के लिए आवश्यक है और वेष परिवर्तन का तात्पर्य है—पहचान या जागरूकता।

अन्य धर्मों के प्रति—

धर्म सत्य है और जो सत्य है वह एक है। वह देश-काल और व्यक्ति के भेद से विभक्त नहीं है, जो देश-काल और व्यक्ति के भेद से विभक्त है, वह धर्म का उपकरण हो सकता है, धर्म नहीं।

आत्मा और धर्म भिन्न नहीं हैं। जो आत्मा है वही धर्म है और जो धर्म है वही आत्मा है। धर्म आत्मा से भिन्न हो तो वह आत्मा को अनात्मा से मुक्त नहीं कर सकता। जो अनात्मा का त्याग से भिन्न करता है, वह धर्म है। वह सबके लिए समान है। फिर भी लोग कहते हैं यह मेरा धर्म और यह तुम्हारा धर्म। यहां धर्म का अर्थ संघ या सम्प्रदाय है, आत्मा की विशुद्धि करने वाला गुण नहीं। भगवान् ने कहा—"आत्मा की उपलब्धि न गांव में होती है और न अरण्य में। आत्मा अपना द्रष्टा बने तो वह गांव में भी हो सकती है और अरण्य में भी" मुक्ति धर्म से होती है। वह जैन, बौद्ध आदि विशेषणों; अमुक-अमुक वेषों आदि से नहीं होती। इस सत्य को भगवान् ने 'अन्यलिंगसिद्ध' शब्द के द्वारा व्यक्त किया। मुक्त होने के लिए आवश्यक नहीं कि वह जैन साधु के वेष में ही हो। वह किसी भी वेष या अवेष में मुक्त हो सकता है, यदि साधु हो—मूर्च्छा या आसक्ति से मुक्त हो। सचाई यह है कि यह धर्म का प्रवाह किसी तट में बन्ध कर नहीं बहता। वह उन्मुक्त होकर बहता है, सबके लिए समान रूप से बहता है। इसलिए वह व्यापक है, उसका

परिणाम सब देशों और कालों मे समान होता है इसलिए वह शाश्वत है। वह व्यापक और शाश्वत है इसलिए वैज्ञानिक है। वह प्रयोग सिद्ध है। उसका परिणाम निश्चित और निरपवाद है। धर्म हो और मुक्ति न हो धर्म हो और आत्मा पवित्र न हो—यह कभी नही हो सकता। जिसने धर्म को देखा वह मुक्त हुआ जब देखा तब मुक्त हुआ, जहाँ देखा वही मुक्त हुआ। धर्म और मुक्ति मे व्यक्ति काल और देश का व्यवधान नही है। दीया अपने आप मे प्रकाशित होता है जब जलता है तभी प्रकाशित होता है और जहाँ जलता है वही प्रकाशित होता है।

धर्म क्या और क्यों ?

भगवान् महावीर का धर्म आत्म धर्म है। वह आत्मा के अस्तित्व से जुडा हुआ है। आत्मा जो है वह धर्म से सर्वथा भिन्न नही है और धर्म जो है वह आत्मा से सर्वथा भिन्न नही है। धर्म आत्मा से बाहर कही नही है। इसलिए वह आत्मा से भिन्न भी है और वह आत्मा के अनन्त गुणों मे से एक गुण है। आत्मा गुणी है और धर्म गुण है। इस दृष्टि से वह आत्मा से भिन्न भी है।

आत्मा जब केवल आत्मा हो जाती है—शरीर, वाणी और मन से मुक्त हो जाती है सारे विजातीय तत्त्वों—पुद्गल द्रव्यों से मुक्त हो जाती है तब उसके लिए न कुछ धर्म होता है और न कुछ अधर्म। वह जब तक विजातीय तत्त्वों से आबद्ध रहती है, तबतक उसके लिए धर्म और अधर्म की व्यवस्था होती है। जिन हेतुओं से विजातीय तत्त्वों का आकर्षण होता है वे अधर्म कहलाते है और जिनसे उनका

निरोध या विनाश होता है, वे धर्म कहलाते हैं। (भगवान् की भाषा मे समता ही धर्म है और विषमता को अधर्म है। राग और द्वेष—यह विषमता है। न राग न द्वेष—यह समता तटस्थता या मध्यस्थता है, यही धर्म है)। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शान्ति, क्षमा, सहिष्णुता अभय. ऋजुता, नम्रता, पवित्रता, आत्मानुशासन, सयम आदि-आदि जो गुण है, वे उसी के क्रियात्मक रूप हैं। इन्ही को व्यवहार की भाषा मे व्यक्तित्व विकास के साधन और निश्चय की भाषा मे आत्म-विकास के साधन कहा जाता है।

सहज ही प्रश्न होता है, धर्म किसलिये ? साधारणतया इसका समाधान दिया जाता है—परलोक सुधारने के लिये। धर्म परलोक सुधारने के लिये है—यह सच है किन्तु अधूरा। धर्म से वर्तमान जीवन भी सुधारना चाहिये। वह शात और पवित्र होना चाहिए। अपवित्र आत्मा मे धर्म कहाँ से ठहरेगा ? उसका आलय पवित्र जीवन ही है। जिसे धर्म-आराधना के द्वारा यहाँ शाति नही मिली, उसे आगे कैसे मिलेगी ? जिसने धर्म को अराधा, उसने दोनो लोक आराध लिए। वर्तमान जीवन मे अन्धेरा ही अन्धेरा देखनेवाले केवल भावी जीवन के लिये धर्म करते है, वे भूले हुए है।

भगवान् ने कहा—

१—इहलोक के लिये धर्म मत करो। वर्तमान जीवन मे मिलने वाले पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति के लिए धर्म मत करो।

२—परलोक के लिए धम मत करो। आगामी जीवन मे मिलने वाले पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति के लिये धर्म मत करो।

३—कीर्ति प्रतिष्ठा आदि के लिये धम मत करो।

४—केवल आत्म शुद्धि या आत्मा की उपलब्धि के लिए धम करो।

धम और अभय—

भगवान् न कहा—धम पवित्र आत्मा मे रहता है। प्रश्न होता है पवित्रता क्या है ? उसका उत्तर है कि अभय ही पवित्रता है। यद्यपि पवित्रता का मौलिक रूप अहिंसा है फिर भी जहाँ भय होता है, वहाँ अहिंसा नही हो सकती इसलिए अभय ही पवित्रता है।

अभय अहिंसा का आदि बिन्दु है। भगवान के प्रवचन का मूल मन्त्र है—डरो मत। जो डरता है वह अपने को अकेला अनुभव करता है असहाय मानता है। भूत उसी के पीछे पडते ह जो डरता है। डरा हुआ मनुष्य दूसरों को भी डरा देता है। डरा हुआ मनुष्य तप और सयम को भी तिलांजलि दे देता है। डरा हुआ मनुष्य अपने दायित्व को नही निभाता—उठाए हुए भार को बीच मे डाल देता है। डरा हुआ मनुष्य सत्पथ का अनुसरण करने मे समर्थ नही होता, इसलिए डरो मत।

न भयावनी परिस्थिति से डरो न भयावने वातावरण से डरो। न व्याधि से डरो, न असाध्य रोग से डरो। न बुढापे से डरो न मौत से डरो। किसी से भी मत डरो। जिसका अन्त करण अभय से भावित होता है वही व्यक्ति सत्य की सम्पदा को पा सकता है।

साम्ययोग—

भगवान् महावीर के समूचे धर्म का प्रतिनिधि शब्द है सामायिक। सामायिक का अर्थ है, समता की प्राप्ति। सब जीव समान हैं—इस धारणा से परत्व और ममत्व—दोनों मिटते हैं और समत्व का विकास होता है। परत्व से द्वेष पलता है और ममत्व से राग। इनसे विषमता बढ़ती है। जब ये दोनों समत्व-में लीन हो जाते हैं तब आत्मा सम बन जाता है।

भगवान् ने कहा—साम्ययोगी लाभ और अलाभ, सुख और दुःख, जीवन और मरण, प्रशंसा और निन्दा, मान और अपमान में सम रहे। ये सब औपाधिक स्थितियाँ हैं। ये आत्मा को विषम स्थिति में ले जाती हैं। सम स्थिति इससे परे है।

भगवान् ने कहा—आत्मा न हीन है और न अतिरिक्त। सब समान हैं। आध्यात्म-जगत् के पहले सोपान में उत्कर्ष और अपकर्ष की भावनाये टूट जाती हैं। जो मुमुक्ष होकर भी किसी को अपने से अतिरिक्त और किसी दूसरे को अपने से हीन मानता है, वह सही अर्थ में मुमुक्ष नहीं है। वह उसी व्यवहार जगत् का प्राणी है, जो जाति, वर्ण आदि के आधार पर आत्मा-आत्मा को ऊँच-नीच माने बैठा है। भगवान् महावीर जातिवाद का खण्डन करने नहीं चले। यज्ञ-हिंसा और दास-प्रथा का विरोध करना भी उनका कोई प्रमुख ध्येय नहीं था। उनका ध्येय था—समता-धर्म की स्थापना। यह खंडन और विरोध तो उसका प्रासंगिक परिणाम था। जहाँ धर्म का आधार समता है, वहाँ जातिवाद हो नहीं सकता। जहा धर्म का आधार

समता है वहाँ यज्ञ हिंसा और दास प्रथा का विरोध स्वत प्राप्त है। भगवान् महावीर का सन्देश यदि इन्ही के विरोध मे होता तो वह सीमित होता और अस्थायी भी। किन्तु उनका सन्देश असीम है। और स्थायी है और वह इसलिए है कि उसका ध्येय आत्मा की सम स्थिति को प्राप्त करना है। भगवान् ने सत्य को अनेकान्त की दृष्टि से देखा और उसका प्रतिपादन स्याद्वाद की भाषा मे किया। इसका हेतु भी समता की प्रतिष्ठा है। एकान्त दृष्टि से देखा गया वस्तुत सत्य नही होता। एकान्त की भाषा मे कहा गया सत्य भी वास्तविक सत्य नही होता। सत्य अखण्ड और अविभक्त है। प्रत्येक अस्तित्व शील वस्तु सत् है। जो सत् है वह अनन्त धर्मात्मक है। उसे अनन्त दृष्टिकोणो से देखने पर ही उसकी सत्ता का यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिए भगवान् ने अनेकान्त दृष्टि की स्थापना की।

यह शब्द-शक्ति की सीमा है कि वह एक साथ अनन्त धर्मात्मक सत् के एक ही धर्म का प्रतिपादन कर सकती है। शेष अनन्त धर्म अप्रतिपादित रहते है। एक धर्म के प्रतिपादन से एक धर्म का ही बोध होता है अखण्ड धर्मो का नही। इस स्थिति मे हम सापेक्ष पद्धति से ही उसका प्रतिपादन कर सकते है—वस्तु के अनन्त धर्मों से जुडे हुए एक धर्म के माध्यम से उस समग्र वस्तु का प्रतिपादन कर सकते है।

अनेकान्त की दृष्टि से देखा तब स्याद्वाद की भाषा मे कहा—प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। स्वरूपअविच्युति की दृष्टि से सब पदार्थ नित्य है और स्वगत परिवर्तनो की दृष्टि से सब

पदार्थ अनित्य है। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थ से सर्वथा सदृश भी नही है और सर्वथा विसदृश भी नही है। सब पदार्थ सदृश भी हैं और विसदृश भी है। प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी है। अपने अस्तित्व-घटकों की दृष्टि से सब पदार्थ सत् है और वह अस्तित्व रूप मे भिन्न अवयवों से घटित नही है, इसलिए सब पदार्थ असत् भी है। कोई भी पदार्थ वाच्य और सर्वथा अवाच्य नही है। एक क्षण मे एक धर्म वाच्य भी है और समग्रधर्मी की दृष्टि से वह अवाच्य भी है।

जो जानता है कि पदार्थ नित्य भी है, वह जीवन और मृत्यु मे सम रहता है। जो जानता है कि पदार्थ अनित्य भी है, वह सयोग-वियोग मे सम रहता है।

जो जानता है कि पदार्थ सदृश भी है, वह किसी के प्रति घृणा नही करता। जो जानता है कि पदार्थ विसदृश भी है, वह किसी के प्रति आसक्त नही बनता।

जो जानता है कि प्रत्येक पदार्थ सत् भी है, वह दूसरे की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार नही करता। जो जानता है कि प्रत्येक पदार्थ असत् भी है, वह किसी को परतन्त्र करना नही चाहता।

जो जानता है कि प्रत्येक पदार्थ वाच्य भी है, वह सत्य को शब्द के द्वारा सर्वथा अग्राह्य नही मानता।

जो जानता है कि पदार्थ अवाच्य भी है, वह किसी एक शब्द को पकड कर आग्रही नही बनता।

इस प्रकार जो सत्य को अनेक दृष्टिकोणों से देखता है, वही सही माने मे साम्ययोगी बन सकता है।

निर्वाण —

धर्म की चरम परिणति निर्वाण मे होती है। निर्वाण का अर्थ है—शान्ति— सति निव्वाण माहिय'। निर्वाण से पहले आत्मा शान्ति और अशान्ति के द्वन्द्व मे रहता है। शान्ति का अर्थ है द्वन्द्व का पूर्ण रूपेण शमन। आत्मा अपनी अवस्था मे चैतन्यमय है। वह न शान्त है और न अशान्त। अशान्ति की तुलना मे उसे कहा जाता है शान्ति निर्वाण सिद्ध है। निर्वाण होने से पूर्व आत्मोपलब्धि साध्य होता है। आत्मा पूर्णरूपेण उपलब्ध होते ही साध्य सिद्धि में परिणत हो जाता है इसलिए निर्वाण सिद्धि भी है। निर्वाण से पूर्व आत्मा सुख दु ख के बन्धन से बधा होता है। वह अपने मौलिक रूप मे आते ही उस बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिए निर्वाण मुक्ति भी है। आत्मा का पूर्णोन्य वह निर्वाण है और इसे प्राप्त करने का अधिकार उन सबको है जो इसे पाना चाहते है। यह उन्हे कभी प्राप्त नहीं होता, जो इसे पाना नही चाहते।

युद्ध और निशस्त्रीकरण —

भगवान् महावीर अहिंसा के अजस्र स्रोत थे। हिंसा उनके लिए कही भी क्षम्य नहीं थी। उनकी दुनियां मे शत्रुता युद्ध और अशान्ति जैसे तत्त्व थे ही नही। उन्होंने कहा—मनुष्य-मनुष्य का शत्रु नही हो सकता। अब कहा जा रहा था—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्ग जितो वा भोक्ष्यसे महीम् ॥" तब भगवान् ने कहा—"युद्ध नारकीय जीवन का हेतु है। आत्मन्! तू आत्मा से लड़। बाहरी लड़ाई से तुझे क्या ?'

अध्यात्म जगत् की यही स्थिति है, किन्तु सब के सब ही अध्यात्मलीन होते नही। ऐसे व्यक्ति अधिक है जो युद्ध, आक्रमण और अधिकार-हरण मे विश्वास करते है। 'आत्मा से लड'—यह उपदेश उनके हृदय का स्पर्श तक नही करता। इस व्यवहार की भूमिका पर चलने वाले लोगो को भगवान् ने सदेश दिया—"आक्रान्ता मत बनो! प्रत्याक्रमण भी अहिंसा नही है, वह स्थिति की विवशता ही है?"

स्थिति से विवश होकर मनुष्य युद्ध करते हैं, पर अन्ततः वह भयानक मार्ग है। शस्त्र का क्रम यह है कि एक के प्रतिकार मे दूसरा शस्त्र निर्मित होता है। पहले से दूसरा तेज होता है। मनुष्य का श्रेय उसी मे है कि वह शस्त्र-परिज्ञा-निश्शस्त्रीकरण करे। शान्ति का मार्ग यही है। मानव-समाज यदि शान्ति चाहता है तो एक दिन यह करना ही होगा।

महावीर की वाणी मे अच्छाई है, पर वह हमसे भिन्न रहकर हमारी अच्छाई नही बन सकती, वह महावीर की अच्छाई है। हमारी अच्छाई तो अपना अस्तित्व गवांकर ही बन सकती है। इससे अभिन्न होकर या हमारा आचरण बनकर ही बन सकती है। महावीर ने इसी सत्य को अन्तिम सत्य माना था। उसका नवनीत यह है कि ज्ञान और आस्था की दूरी मिटती है तो सत्य का दर्शन होता है। वाणी अपने आसन से नीचे उतर आती है। आस्था और आचरण की दूरी मिटती है तो सत्य की उपलब्धि होती है—वाणी उसमे विलीन हो जाती है। फिर उपदेश हमारे लिए किसी दूसरे का वचन नही रहता, किन्तु हमारा आत्म-धर्म हो जाता है। उपदेश कोरा उपदेश रहकर हमारा भला कर ही नही सकता। हमारा भला तभी होता, जब वह हमारा धर्म बन जाता है।

'सुख दुःख का कर्त्ता आत्मा है। वही मित्र है और वही शत्रु। आत्मा पर अनुशासन कर। जो आत्मा पर अनुशासन करता है, वही सुखी होता है। आत्मा से लड़! उस पर विजय पाने वाला विश्वजित् होता है और वह सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है।

किसी को शत्रु मत समझ! वास्तव मे शत्रु कोई है ही नही। एक के प्रति तेरा विश्वास ही मित्र के रूप मे प्रतिबिम्ब होता है और तेरा अविश्वास ही शत्रु के रूप मे। सबको समदृष्टि से देख! सर्वत्र मित्र ही मित्र दीखगे। दूसरे को शत्रु मानकर तू अपने आप पर अविश्वास करता है। किसी को शत्रु मानकर उससे मित्रता करने के बदले किसी को शत्रु नही मानना ही श्रेष्ठ है। विश्व-मैत्री का यही आधार है।

शान्ति के लिए बाहर मत देख! तेरी आत्मा परम शान्ति का स्रोत है। उसको खोजकर आत्मा को जगा शान्ति का स्रोत फूट पडेगा। भौतिक-सामग्री सुख दे सकती है, चिर शान्ति नही। चिर शान्ति के

लिए अन्दर झांक ! सन्तुलन का अभ्यास कर ! तेरा कण-कण शान्तिमय हो जाएगा।"

"मनुष्य तेरे मे अनन्त शक्ति है। तू तेरा भाग्य-विधाता है। श्रम मे विश्वास कर। श्रम कर, फल अवश्य मिलेगा। पुरुषार्थी का अर्थ है, अपने कर्तृत्व मे विश्वास। इस विश्वास से तू जो चाहे वह बन सकता है।"

जितने व्यक्ति है, उतने ही विचार है। सभी अपने-अपने विचारों को महत्व देते है। विचार सस्कार-सापेक्ष होते है। सभी के विचार समान हो जाय, यह कभी सम्भव नही। यह अवश्य सम्भव है कि विचारों की विविधता मे भी सघर्ष न हो। दूसरों पर अपने विचार थापना हिंसा है। अपने विचार दूसरों को समझाओ, पर बल-पूर्वक दूसरों पर उनको मत थोपो।

विचारों का आग्रह हिंसा है। सत्य का भी स्वीकार हो, आग्रह नही। आग्रह मे सत्य भी तिरोहित हो जाता है। विचारों को लेकर खीचातान मत करो। दूसरा व्यक्ति तुम्हारे विचार माने ही, यह आग्रह मत रखो।

युद्ध नारकीय जीवन का हेतु है। मनुष्य विवश होकर युद्ध करता है। वह शस्त्र सचय मे लगता है। शस्त्र का क्रम यह है कि एक के प्रतिकार मे दूसरा शस्त्र निर्मित होता है। पहले से दूसरा तेज होता है। मनुष्य का श्रेय इसी मे है कि वह निश्शस्त्रीकरण करे। शान्ति का मार्ग यही है।

'जो व्यक्ति दिन और रात विजन और परिषद् सुप्ति और जागरण मे अपने आत्म पतन के भय हेतु पाप से बचते है वे अध्यात्मवादी है। वे परम-आत्मा के सान्निध्य मे रहते है और एक दिन वे भी परम-आत्मा बन जाते है।

"दु ख के अग्र और मूल को उखाड फेक। जो व्यक्ति दु ख का उपचार करते है किन्तु उसके मूल का उपचार नहीं करते वे दु ख से छुटकारा नही पा सकते।'

जातिवाद अतात्त्विक है। इसमे वही फँसता है जो सचाई को नहीं पहचानता। काले-गोरे, पूर्वीय-पाश्चात्य अच्छे-बुरे स्त्री पुरुष सभी मे परम आत्मा विराजमान है। जाति का गर्व मत कर। दूसरों को अपने से हीन मानकर अहकार को बढावा मत दे। और दूसरो से अपने को हीन मानकर दीन मत बन। सर्वत्र समभाव रख।'

मनुष्य जसा करता है वसा ही उसको भोगना पडता है अच्छे का अच्छा और बुरे का बुरा।

'धम का पहला लक्षण है अहिंसा और दूसरा है तितिक्षा। जो कष्ट मे धर्य नही रखता वह अहिंसा की साधना नही कर सकता। अहिंसक अपने से शत्रुता रखने वालों को प्रिय मित्र मानता है वह अप्रिय वचन को समभाव से सहता है। जो प्रिय और अप्रिय मे सम रहता है वह समदृष्टि है वह अहिंसक है।'

'धर्म का आलम्ब पवित्र जीवन है। अपवित्र आत्मा मे धम नहीं ठहरता। धर्म परलोक सुधारने के लिए ही नही, उससे वर्तमान

जीवन भी सुधरना चाहिए। जिसे धर्म-आराधना के द्वारा यहा शान्ति नही मिली, उसे आगे कैसे मिलेगी ?"

"जीवन की भौतिक सुख-समृद्धि के लिए धर्म मत कर, पूजा-प्रतिष्ठा के लिये धर्म मत कर, केवल आत्मा की पवित्रता के लिए धर्म कर !"

आलोचना धीरज की परख करने को आती है—कसौटी बन कर आती है। उससे डिग जाय वह कुछ कर नहीं सकता और करने वाला उससे डिगता नहीं। जीवन के विभिन्न अवसरों पर व्यक्ति विभिन्न कार्य करता है। वह अपने सिद्धान्त अपनी सूझ और अपनी समझ से करता है। परखने वाले की दृष्टि अपनी होती है। भगवान् महावीर के शिष्य गोशालक ने भगवान् को जैसा समझा, वैसा आर्द्रकुमार को समझाने का यत्न किया आर्द्रकुमार भगवान् का शिष्य रहा और गोशालक त्यक्त शिष्य।

आर्द्रकुमार जाति-स्मृति—पूर्व जन्म की याद दिलाने वाला ज्ञान प्राप्तकर, दीक्षा ले, भगवान् की शरण मे आ रहा है और गोशालक भगवान् की शरण से छूट अपने तीर्थङ्कर-पद की साख जमाने की धुन मे है। मार्ग मे दोनों की भेंट हो गई। गोशालक ने सोचा—इसे समझा लू। भगवान् महावीर से हटा अपना चेला बना लू। गोशालक बोला—आर्द्रकुमार! क्या तुम महावीरजी के पास जा रहे हो?

आर्द्रकुमार आनन्द भरे स्वर मे बोला—हाँ, भगवान् महावीर की शरण मे। गोशालक—तुम भोले हो आर्द्रकुमार ! तुम नही जानते वे कैसे है ? मै उनका शिष्य रहा हूँ। मै उन्हे जानता हूँ, उनकी चर्या जानता हूँ। लो सुनो ! उनका जीवन पहले दूसरा था, अब दूसरा बन गया। महावीर अब वे महावीर नही, जो साधना के कठोर पथ पर चलते थे।

आर्द्रकुमार ! महावीर पहले अकेले रहते थे। आज वे उस उग्र घोर आचार से फिसल गए। देखो ! अब परिवार बाध बैठे है। तुम्हारे जैसे भोले लोगो को ठगने के लिए आडम्बर रच रखा है। देव, देवी, मनुष्य और स्त्रियों की परिषद् के बीच धर्म की दुहाई दे रहे है। मीठी-मीठी बातें बना लोगों को भंवरजाल मे फाँस रहे है। आर्द्रकुमार ! अब उन्होंने अपना परिवार बढा आजीविका सुलभ बना ली है। मैं जब उनके साथ था, तब वे सूनी जगहों मे रहते, रूखी सूखी रोटी खाते। बालू चाटने जैसी रूखी चर्या से थक गए। इसलिए मुझे छोड गाँवो मे, शहरो मे, लोक-सकीर्ण बस्तियों मे रहने लगे है और मीठे पकवान खाते-खाते अघा जाते है। आर्द्र-कुमार ! देखो, कितने अस्थिर है तुम्हारे महावीर ! और देखो, अबकी चर्या पहले की चर्या से मेल नही खाती। दोनों मे विरोध है। या तो वह ठीक होगी या यह ! यदि यह ठीक है तो पहले वह पाखंड क्यों रचा और यदि वह ठीक हैतो उसे छोडा क्यो ? ध्यान दो भाई ! कितनी सीधी बात है। फिर सोचो—(१) पहले अकेले रहे, अब कितना परिवार है (२) पहले मौन रहे, अब बोल्ते-बोलते नहीं थकते (३) पहले रूखा-सूखा खाते और अब पाँचों अगुलियाँ घी मे रहती है।

धूप और छाँह की भांति दोनों आचार आपस मे मिलते नही। अकेले रहना धर्म था तो परिवार क्यों जोड़ा। मौन धर्म था तो वाणी क्यो खोली ? रूखा खाना धर्म था तो चिकने मे क्यों फसे ? या तो उन्होंने पहले भूल की या वे आज भूल पर है। दो मे से एक तो मानना ही होगा, आर्य आर्द्र। गोशालक फिर बोला—आर्द्र ! तुम्हारे महावीर राग द्वेष की भावना से घिरे हुए है। इसलिए भीरु है। वे सार्वजनिक स्थानों मे ठहरने से घबराते हैं। इसलिए घबराते है कि वहाँ उनसे कोई प्रश्न पूछ बैठे। इस युग मे बहुत सारे दक्ष है मेधावी है शिक्षित और बुद्धिमान हैं। सूत्र-अर्थ का निश्चय पाने वाले है। वे यू पूछ बैठे—अन् आगार कौन होता है ? तो वे क्या बताये ? वे अपने को अन-आगार बताते है और आगारों की ठंडी छाया मे आनन्द लूटते है। वे इस आशंका से भरे हुए है। इसलिए अपने कटघरे मे अपने परिवार से घिरे रहते है। सबके सामने नहीं आते। इसलिए आर्द्र कुमार ! तुम्हारे महावीर का मार्ग ऋजु मार्ग नही है।

गोशालक अपने धर्म वृक्ष को अग्नि से सींचता जा रहा है देखा आर्द्र कुमार ! तुम्हारे महावीरजी की बनियाई वृत्ति ! बनिया किराना से लाभ कमाने के लिए विदेश जाता है लोक सग करता है वैसे ही तुम्हारे महावीर थोड़े से लाभ के लिए पूजा और नाम पाने के लिए जनता के झुण्ड के बीच रहते है—उपदेश चलाते है। इसलिए वे बनिये जैसे स्वार्थी है। जहाँ तक म सोचता हू—आर्द्र कुमार ! उनके पास परमार्थ जैसी कोई बात नही है। आर्द्र कुमार ने धीर और शांत भाव से गोशालक की बाते सुनी और शान्त रस भरी वाणी मे बोला—

"गोशालक ! तुमने श्रमण भगवान् महावीर को उनकी दृष्टि से नही देखा, इसलिए तुम भूल रहे हो। भगवान् पहले भी अकेले थे, अब भी अकेले हैं और आगे भी अकेले रहेंगे। राग-द्वेष से मुक्त और एकत्व-भावना रखने वाला अकेला ही है, फिर चाहे वह विजन मे रहे, चाहे लोकवृन्द के बीच। भगवान् हजारों के बीच धर्म उपदेश करते हुए भी अकेले है। उन्हे राग-द्वेष नही सताता। मौन रहना भी अच्छा है। जो क्रोध जीत ले, मान मार ले, इन्द्रियों पर काबू पा ले, वाणी से दोष मिटा दे और गुण को निखार दे, वैसा व्यक्ति उपदेश दे वह भी अच्छा है। मौन भी साधना थी और उपदेश भी साधना है। उससे भी कर्म-मल खपा और इससे भी वही खप रहा है। गोशालक ! तुम थोड़ी गहराई मे जाते, तो यह उलझन तुम्हे यू नही सताती। भगवान् स्निग्ध और भारी आहार के लिए तीर्थङ्कर नही बने हैं। उन्होंने जन-कल्याण के लिए तीर्थ की स्थापना की है।"

"भगवान् महावीर अकाम-कृत्य नही है—वे निष्फल नही बोलते। वे बाल-कृत्य भी नही—बच्चे की भांति बिना सोचे-समझे भी कुछ करने वाले नहीं है। वे राजबल से दब कर उपदेश नहीं देते न और किसी के दबाव से उपदेश देते है। वे अकुतोभय है। वे समाधायक हैं। उपकार देखते है तो उत्तर देते है, नही तो नही। वे पूजा-प्रतिष्ठा या रोटी पाने के लिए उपदेश नही देते, एक मात्र जन- कल्याण की दृष्टि से उपदेश देते हैं। वे सकाम-कृत्य है—उपकार बढ़े तो वे जाकर भी उपदेश दे आते है और उपकार न दीखे तो पास मे बैठे हुए को भी उपदेश नही देते। वे अमीर को भी धर्म कहते है और

गरीब को भी। इसलिए वे राग द्वेष से परे है। ये राग द्वेष बढे, वहाँ नही जाते। वे सार्वजनिक स्थानों मे जाते है। वे सिर्फ राग द्वेष के बढाव से डरते है और किसी से नही डरते। गोशालक ! तुम नहा जानते—स्वार्थ और परमाथ एक बडी समस्या है। वीतराग दशा मे पहुँच व्यक्ति का स्वार्थ परमाथ से जुदा नही होता। वह अपने लिए वही कहता है जो परम अर्थ होता है। तुम समझो, स्वार्थ और परमार्थ का भेद राग द्वेष और तेरी मेरी मे फंसे व्यक्तियों के लिए ही है। मेरे पूज्य भगवान नया कम मल नही ग्रहण करते है और पुराने कर्म-मल को धो डालने मे लगे हुए है। मैं थोडे अशों में तुम्हे समर्थन देता ह। वे स्वार्थी है लोभी है। वे मोक्ष के आत्म उदय के लालची है। भगवान् जहाँ-जहा आत्म-लाभ देखते है वहाँ जाते है बोलते है और रहते है। फिर भी गोशालक ! तम हिंसा मे रमे परिग्रह मे फसे मैथुन में गडे और अपनी रोटी के लिए जन जन मे घूमने वाले बनिए के साथ श्रमण भगवान् महावीर को तोलते हो। विचित्र है तुम्हारी तकणा। देखो वे अहिंसा के अवतार है। वे परिग्रहों को पीठ दिखाकर योगिराज बने है। ब्रह्मचर्य मे धूनी रमा रहे है। वे आत्मा के लिए आत्महित के लिए जन सग करते है। ध्यान दो गोशालक ! यह बनियाई वृत्ति नही यह साधना की वृत्ति है। यह जन कल्याणकारी नायक की वृत्ति है। बनिए को लाभ मिलता है नही भी मिलता है। किन्तु भगवान् महावीर की वृत्ति खाली नही जाती। गुणोदय होता है—अपना और पराया दोनों का। गोशालक भगवान् ! की योग-जन्य विभूति—अतिशय

को तुम आडम्बर बताते हो, यह भी सत्य के साथ तुम्हारी आँख-मिचौनी है। वे अहिंसक है। प्रजा-मात्र पर अनुकम्पा रखने वाले है। धर्म-स्थित है। वे कर्म विवेक के लिए कर रहे है। अतिशय उनके पीछे लगे हुए हैं। वे उनसे बंधे हुए नही है।"

आर्द्रकुमार की सूक्ति भरी और गाठ खोलनेवाली बातें सुन गोशालक ! बोला—"आर्द्रकुमार ! यदि बात ऐसी है, पर-हित के लिए बरतने वाला व्यक्ति धर्म कहे, शिष्य-परिवार रखे, इसमे दोष नही तब तो हम जो सचित्त पानी पीते है, बीज-काय खाते है, आधा कर्म भाजन लेते है, स्त्री-प्रसग करते है, हमे क्यों दोष लगेगा ?"

आर्द्रकुमार की थोडे मे बहुत देने वाली वाणी सुन गोशालक तमतमा उठा और धीरज खोते हुए बोला—"आर्द्रकुमार ! तुम यह कहकर सब दर्शनो पर लाञ्छन लगा रहे हो। उपस्थित दार्शनिकों की ओर दृष्टि डालते हुए यह छीटाकसी दिल का तोडने वाली नही है क्या ?"

आर्द्रकुमार गोशालक की रोषाग्नि पर पानी उड़ेलता हुआ बोला—"गोशालक ! महावीर के शिष्य छीटाकसी करना नही जानते। सब दर्शन वाले अपना-अपना मत बताते है, अपनी-अपनी दृष्टि सामने रखते है। मैं भी उसी पथ पर चला हूँ। मैंने अपनी दृष्टि नही रखी है, अपना मार्ग बताया है। मैंने दूसरे व्यक्ति की निन्दा नही की है। गलत दृष्टि को गलत कहा है, व्यक्ति को गलत नही कहा है।"

आर्द्रकुमार की साम्य बरसाने वाली मुद्रा ने गोशालक से लिया बहुत दिया कुछ भी नही। गोशालक अपनी अधीर और उत्तेजित मुद्रा मे वाणी को समेटते हुए आकाश दर्शन करने लगा और समता के महान् प्रतीक आर्द्रकुमार भगवान् महावीर की ओर चल पडे।

महावीर इसलिए महावीर थे कि उनके पराक्रम की आग सदा प्रज्वलित रहती थी। उनकी क्रान्ति का स्वर था—"बुझो मत ! बुझना पाप है। जलो और इस प्रकार जलो कि तुम्हारे जलने से घोर अमा पूनम की रात बन जाय और आस-पास की कालिमा भी धुल जाए।" उन्होंने स्वयं को जलाया और तब तक जलाया, जब तक वे प्रकाश-पुंज नहीं बन गए। उन्होंने पहले पद मे कहा—"अहिंसा धर्म है।" तो दूसरे पद मे कहा—"कष्ट सहना धर्म है" जो कष्ट सहना नही जानता, उसकी अहिंसा काय-रता मे बदल जाती है और जो अहिंसा को नही जानता, उसका कष्ट सहना उन्माद मे बदल जाता है। कायरता भी पाप है और उन्माद भी पाप है। महावीर को ये दोनों प्रिय नही थे।

महावीर ने बताया—पराक्रम की आग समता के घृत से प्रज्वलित होती है। विषमता की राख से उसको ढको मत। उनका जीवन कष्टों की कहानी है। उनका स्पर्श कर कष्ट चूर हुए, पर वे कष्टों के स्पर्श से चूर नही हुए। पराक्रम, पराक्रम

ही है। वह कष्ट देने मे भी लग सकता है और उसे झेलने मे भी लग सकता है। जो बाहर की सत्ता मे विश्वास करता है वह कष्ट दे सकता है पर उसे झेलने की तैयारी उसमे नही होती। जो अपनी सत्ता मे विश्वास करता है वह कष्ट झेल सकता है पर दे नही सकता।

महावीर की पराक्रम-दीप्ति के दो अंग थे—अभय और अमूर्च्छा। पराक्रम की लौ तब बुझती है जब जीवन मे मूर्च्छा होती है। मृत्यु का भय होता है तब भी वह बुझ जाती है। लाभ मे मूर्च्छा होती है और अलाभ का डर सुख मे मूर्च्छा होती है और दुख का डर, सम्मान मे मूर्च्छा होती है और अपमान का डर, तब पराक्रम की लौ बुझ जाती है।

महावीर ने पराक्रम की लौ जलाई इसीलिए परिस्थिति उस पर हावी नही हो सकी। वह उसी व्यक्ति को कुचलती है, जिसका पराक्रम बुझा हुआ होता है। महावीर ने देखा अपना भगवान् अपने आप मे है। उसकी शक्ति असीम है। जो उसे देख लेता है उसे परिस्थिति अणु जैसी छोटी लगती है। जो अपने अन्तस्थल के भगवान् को नही देख पाता उसे परिस्थिति सर्वतो महान् लगती है।

तब कहा जाता था—'साधना अकेले मे ही हो सकती है।'

महावीर ने कहा—'जो साधना करना चाहे वह समुदाय मे रहकर भी अकेला रह सकता है।'

तब कहा जाता था—'साधना जंगल मे ही सकती है।'

महावीर ने कहा—'साधना गाव मे भी हो सकती है। अपना भगवान् न दीखे तो वह जंगल मे भी नही हो सकती और गाव

मे भी नही हो सकती। अपना भगवान् दीखे तो वह गाव मे भी हो सकती है और जगल मे भी।"

तब कहा जाता था—"साधना पुरुष ही कर सकता है, स्त्री नही कर सकती।"

महावीर ने कहा—"साधना पुरुष भी नहीं कर सकता और स्त्री भी नही कर सकती, जिसे स्त्री और पुरुष का अभेद न दीखा हो। जिसे दीखा कि स्त्री भी आत्मा है और पुरुष भी आत्मा है, वह स्त्री भी साधना कर सकती है और वह पुरुष भी साधना कर सकता है।"

तब कहा जाता था—"साधना का अधिकारी सन्यासी ही है, गृहस्थ नही" और कही कहा जाता था—"साधना का अधिकारी गृहस्थ ही है, सन्यासी नही।"

महावीर ने कहा—"जो व्रतहीन है, वह सन्यासी भी साधन का अधिकारी नहीं है और गृहस्थ भी नही है। जो सुव्रत है, व गृहस्थ भी साधना का अधिकारी है और सन्यासी भी।"

तब कहा जाता था—"मेरे सम्प्रदाय मे आओ, तुम्हरी मुक्ति हो जाएगी, नहीं तो नही।"

महावीर ने कहा—"जो प्रबुद्ध है, वह सम्प्रदाय से मुक्त रहकर भी मुक्ति पा सकता है और जो प्रसुप्त है, वह सम्प्रदाय मे रहक भी मुक्ति नहीं पा सकता। मुक्ति प्रबुद्ध को होती है, प्रसुप्त क नही।"

लोग कहते हैं, महावीर ने यज्ञ-हिंसा के प्रति विद्रोह किय जातिवाद के विरुद्ध क्रान्ति की, दास-प्रथा के विरोध मे प्रब

शखनाद किया। मै नही मानता इस कथन मे कोई बडी सचाई है। मुझे लगता है कि महावीर ने जो कुछ किया, वह समता की स्थापना और विषमता की उत्थापना के लिए किया। यज्ञ हिंसा का मूल विषमता था जातिवाद का बीज विषमता की भूमि मे अकुरित हुआ था। दास-प्रथा का आधार भी वही विषमता थी। समता की स्थापना के प्रयत्न मे वे सब उखड गए। पर वे उसके परिणाम थे, ध्येय नही। यदि ये ही कार्य महावीर के कर्तृत्व के ध्येय होते तो महावीर बहुत छोटे होते और बहुत छोटा होता उनका पराक्रम। वह पराक्रम इतने लम्बे समय तक कभी प्रदीप्त नही रहता।

समता और विषमता का शाश्वत सघर्ष है। महावीर ने समता की प्रतिष्ठा मे योग दिया और वे कालातीत हो गए। यज्ञ हिंसा आज नही। जातिवाद लडखडा रहा है। दासप्रथा मिट चुकी है। विषमता आज भी है। आज भी जीवन के प्रति ममत्व और मृत्यु के प्रति भय है। हमारे मन की विषमता है। मन की विषमता ही बाहरी विषमता को जन्म देती है। उसकी उत्थापना कोई महावीर ही कर सकता है।

महावीर ने यह नही कहा कि मैं भगवान् हू और तुम सब मेरे भक्त। मैं भगवान् बना रहू और तुम सब मेरे भक्त बने रहो। उन्होने कहा— तुम सब भगवान् हो यदि प्रबुद्ध हो जाओ तो। तुम इसलिए भगवान् नही हो कि तुम प्रबुद्ध नहीं हो। तुम्हारे पराक्रम का द्वार बन्द होता है तुम्हारा भगवान् सो जाता है। तुम्हारे पराक्रम का द्वार खुलता है तुम्हारा भगवान् प्रगट हो जाता है।"

महावीर के पराक्रम के वाद मे व्यक्तित्व के विकास की चरम सम्भावना और कर्तृत्व की असीम स्फुरणा है। उसकी आवश्यकता उन सबको है, जो समृद्ध जीवन जीना चाहते हैं। उनको और अधिक आवश्यकता है, जो पराक्रम का सही उपयोग करना नही जानते। उनके लिए यह अनिवार्य है जो कायरता का जीवन जीते है। हम महावीर की स्मृति भक्त और भगवान् के रूप मे न करें, किन्तु स्वय महावीर वनने के लिए करे।

८

कर्मयोगी महावीर

भगवान् महावीर विक्रम पूव छठी शताब्दी मे जन्मे। विदेह देश की राजधानी वैशाली (बसाढ) जिला मुजफ्फरपुर उनकी जन्मभूमि थी। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिसला था। वे जाति के क्षत्रिय थे। वे राजकीय वैभव मे पले-पुसे। कौमार बीता। युवा बने। विवाह किया। एक पुत्री हुई। महावीर के माता पिता भगवान् पार्श्व की श्रमण परम्परा के अनुयायी थे। उनके देहावसान के बाद उन्होंने तत्काल श्रमण बनाना चाहा। उनके बडे भाई नन्दीवर्धन के आग्रह से वसा नही हो सका। वे दो वर्ष घर मे रहे। ३० वष की अवस्था मे अमरत्व की साधना को निकल गए। शान्ति उनके जीवन का साध्य था। क्रान्ति था उसका सहचर परिणाम। उन्होंने १२ वष तक शात मौन और दीर्घ तपस्वी जीवन बिताया। विशुद्ध साधना और शुक्ल-ध्यान की श्रेणी से कवल्य प्राप्त किया। साधक महावीर अब केवली बन गए। वीत राग हुए, इसलिए जिन कहलाए। साधु साध्वी श्रावक श्राविका—इस तीर्थ-चतुष्टय

की स्थापना की, इसलिए तीर्थङ्कर कहलाये। तत्वद्रष्टा महावीर ने कैवल्य के द्वारा विश्व को देखा, जाना और कहा। उनकी धर्म-देशना का सर्वोपरि तत्त्व था—अहिंसा। अहिंसा अर्थात् समता। उन्होंने कहा—समता ही विज्ञान है। नैसर्गिक विषमता त्रैकालिक है। एक चींटी, एक गधा और एक मनुष्य, यह अपनी-अपनी योग्यता का परिणाम है। इसकी चिकित्सा मनुष्य के हाथ मे नही है। वह सामाजिक विषमता का अन्त ला सकता है। वह उसकी मानसिक सृष्टि है। समाज के सब प्राणी एक रूप, एक जितने लम्बे-चौडे, समबुद्धिवाले हो, इसका नाम समता नही है। समता का अर्थ है मध्यस्थवृत्ति लाभ मे मद न करना और अलाभ मे दीन न होना। दैहिक और बौद्धिक वैषम्य, जो जन्मजात होता है, वह कोई बुराई नही है। बुराई वह वैषम्य है जो सत्ता, शक्ति और बुद्धि के आधार पर असत्ताक, अशक्तिक और अबुद्धिक व्यक्तियों के साथ बरता जाता है। इसलिए ध्रुव-सत्य धर्म की देशना देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—किसी को मत मारो, मत सताओ, पीडा मत दो, दास-दासी बना हकूमत मत करो, बलात् किसी को अपने अधीन मत करो। जो अपनी वेदना को समझता है, वही दूसरों की वेदना को समझता है। जो दूसरों की वेदना को समझता है, वही अपनी वेदना को समझता है। जो व्यक्ति, धर्म अर्थ और काम के लिये, जन्म-मृत्यु से मुक्त होने के लिये, मान, प्रतिष्ठा और बडप्पन के लिये, दूसरे जीवों को मारते है, वह उनके हित के लिये नही होता। हिंसा कायरता है। जो सत्वहीन होता, वही दूसरों को मारता है। अहिंसा वीर-धर्म है। जो वीर होते है, वे अहिंसा के राजपथ पर चल पडते हैं। धर्म का एक पक्ष है—अहिंसा और दूसरा कष्ट-सहिष्णुता। जो कष्ट-

सहिष्णु नही होता वह अहिंसक भी नही होता। अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिये उन्होंने अभय पर बल दिया। जो दूसरों से न डरे और न डराए, वही अहिंसक होता है। संयमी पुरुष दूसरों की हिंसा कर दूसरों को कष्ट पहुँचा कर जीवित रहना नही चाहते।

भगवान् महावीर ने जीवनव्यापी अहिंसा का स्रोत बहाया, वह जीवन को सूक्ष्म वृत्ति तक आ पहुँचा। जातिवाद भाषावाद और श्रेष्ठतावाद आदि जो हिंसा के अंग थे उसके विरुद्ध अपने आप क्रान्ति शंख बज उठा।

प्रवाह का अनुगमन करते हुये लिखा जाता है—भगवान् महावीर ने जातिवाद के विरुद्ध क्रान्ति की, यज्ञ-बलि का घोर विरोध किया क्रियाकाण्डो की निरर्थकता बतलाई आदि आदि किन्तु यह सब उनके विराट साध्य को सीमित करने जैसा है। उनका साध्य था मुक्ति। वे जातिवाद आदि का विरोध करने नही चले। वे चले थे मुक्ति के लिये अहिंसा की साधना करने। अहिंसा का तेज जो निखरा वह हिंसा की बुराइयो को प्रकाश मे लाता चला गया। अहिंसा का विश्लेषण करते हुये भगवान् ने कहा—यह संसरणशील प्राणी अनेक बार महान् बन चुका है और अनेक बार साधारण। कौन छोटा है, और कौन बडा ? कोई नही। सब छोटे है और सब बडे। जातिवाद के आधार पर ऊंच-नीच की कल्पना मिथ्या है। जो शील सम्पन्न है वही जातिमान् है। श्रेष्ठ वही है, जो तपस्वी है। हरिकेशबल जसे चाण्डाल और आर्द्रकुमार जैसे अनार्य उनके संघ में प्रव्रजित हुये।

उस समय का पण्डित-वर्ग भाषा के गर्व मे चूर था। भाषा का मद भी हिंसा है। साधनाहीन व्यक्ति को भाषा त्राण नही दे तो—इस वाक्य ने भाषावाद को चुनौती दे डाली और भगवान् ने जनता की भाषा मे जनता को समझाया। याज्ञिक-हिंसा, जो स्पष्ट हिंसा थी, उसका अहिंसा से मेल न बैठना स्वभाविक ही था। अहिंसा की परिधि को व्यापक करते हुए उन्होंने कहा—"जीव-घात और मनो-मालिन्य जैसे हिंसा है, वैसे एकान्त-दृष्टि या मिथ्या-आग्रह भी हिंसा है।" दृष्टि को ऋजु और सापेक्ष किए बिना वस्तु-स्थिति का यथार्थ ग्रहण और निरूपण नही किया जा सकता। वे न कोरे ज्ञानवादी थे न क्रियावादी। वे जितने व्यवहारवादी (तर्कवादी) थे, उतने ही निश्चयवादी (श्रद्धावादी)। बन्धन-मुक्ति के उन्होंने तीन मार्ग बतलाये— सम्यक्-श्रद्धा, सम्यक्-ज्ञान, और सम्यक्-चारित्र। वस्तु-तत्व के अन्तस्तल तक पहुँचने के लिए उन्होंने निश्चय-दृष्टि दी और उनके स्थूल निरीक्षण के लिए व्यवहार दृष्टि। वे जीवन-व्यवहार मे सत्य के आग्रही थे। उन्हे शिष्य प्रिय नही थे, उनको साधना प्रिय थी। उनके प्रथम शिष्य गौतम आनन्द से आग्रह भरा विवाद कर आए। आनन्द ने कहा—"मुझे अमुक परिमाण का साक्षात् ज्ञान हुआ है।" गौतम ने कहा—"तुम्हे ऐसा हो नही सकता।" बात चलते चलते विवाद हो चला। गौतम महावीर के पास आये। बीता जो वह कह सुनाया। महावीर ने कहा—"आनन्द सही है, तुम गलत हो। फिर जाओ और उससे सत्य को मिथ्या ठहराने के लिये, मिथ्या आग्रह के लिए क्षमा मांगो।" गौतम इसलिये बडे थे, उन्होंने निश्छल

भाव से वश किया। महावीर के साधना-क्षेत्र में वही है जो दीर्घ तपस्वी होता है। आंतरिक वृत्तियों का शोधन और बाहरी वृत्तियों पर विजय—यह थी उनके तपस्वी-जीवन की परिभाषा। उनका तपस्वी शरीर हमारे सामने नहीं है। उनकी तपस्वी साधना की प्रतीक वाणी हमें प्राप्त है। हमारा धर्म है, हम उसे अमरत्व का साधन बना आगे बढ़ें।



धर्म का मौलिक ध्येय है मुक्ति ! फिर हमारे व्यावहारिक जीवन मे भी वह कम उपयोगी नही है । भगवान् महावीर ने कहा—समता ही धर्म है। उन्होंने बार-बार कहा—

"लाभ-अलाभ, सुख-दुख
जीवन-मरण, निंदा-प्रशंसा,
मान-अपमान—मे सम रहो"

हम इस उपदेश को आध्यात्मिक ही समझते रहे है और वह हमारी समझ ठीक भी है । हमे इतना और समझना चाहिए कि वह जितना आध्यात्मिक है उतना ही व्यावहारिक है । मन की समता मे हमारी आत्मा ही बन्धन मुक्त नही होती अपितु शरीर भी अनेक व्यथाओं से मुक्त होता है । मन की विषमता से हमारी आत्मा ही बद्ध नही होती, किन्तु शरीर भी व्यथित होता है । चिकित्सा-शास्त्र भी प्रमाणित कर चुका है कि मन की सम अवस्था शरीर की स्वस्थता मे सहायक होती है और उसकी विषमता से स्नायुओं मे भयंकर तनाव होता है । मन की

अस्तव्यस्तता से शरीर विकार ग्रस्त हो जाता है। उत्तेजना या क्रोध की दशा मे हृदय की रक्त केशिकाएँ स्रवित हो जाती है। उसका परिणाम अनिष्ट होता है।

मानसिक विकारों से शरीर रुग्ण बनता है उसे दैहिक (साइको सोमेटिक) रोग कहते है। उसका पहला प्रभाव यह होता है कि स्नायुओ मे तनाव आ जाता है और दूसरा प्रभाव यह होता है कि अन्त स्रावी तन्त्र विकृत बन जाता है। परेशानी और लज्जा से मुह लाल हो जाता है। भय से चमडी सफेद हो जाती है। अप्रिय व्यक्ति को देखकर सिर या गर्दन मे पीडा होने लगती है। आतंक के कारण पाँव ठण्डे पड जाते हैं। हड्डियो की खराबी पक्षाघात मधुमेह, दन्त पीडा गठिया संग्रहणी जैसे दुस्साध्य रोगों का भी अस्वस्थ मन हेतु बन जाता है। तीव्र घृणा, श्वास रोग और खीज व्रण के रूप मे अभिव्यक्त होती हैं।

जेम्स कानिक ने लिखा है—मानसिक तनावों तथा आवेगो के कारण पित्ताशय की पथरी बढ जाती है। धमनियो पर छायी चर्बी फूल जाती है। प्राय मन इन्ही दोनो अस्त्रों से अपने शिकार को मारता है। मानसिक आवेग जितना ही बढता है, एड्रेनेलीन नामक हारमोन उतनी ही अधिक मात्रा मे रक्त मे प्रवाहित होने लगता है। यह हारमोन छोटी धमनियों को संकुचित करता है। हृदय की धमनियाँ भी इससे प्रवाहित होती है। अगर वे बहुत सकुचित हो जाती है तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

यदि हम चिन्ता, भय और निराशा को वश मे रखना सीख जाएँ तो हमारा रक्त-चाप सतुलित रहेगा, हृदय की धमनियाँ संकुचित नही होंगी और अहंभाव को प्रबल आघात लगने पर भ हमे कैसर, क्षय, मधुमेय जैसे रोग नही होंगे।

बहुत प्राचीन काल से ही यह कहा जाता रहा है—

"यह धातु-बद्ध शरीर चित्त के अधीन है, चित्त के नष्ट होने पर धातुएँ नष्ट हो जाती हैं, चित्त के स्वस्थ होने पर बुद्धियाँ स्फुरित होती है, इसलिए चित्त की सर्वथा रक्षा करो।"

चित्तायत्त धातु-बद्ध शरीरम्।
चित्ते नष्टे बुद्धयो यान्ति नाशम्।
स्वस्थे चित्ते बुद्धय. प्रस्फुरन्ति,
तस्माच्चित्त सर्वथा रक्षणीयम्।

"न श्वेताम्बर होने से मुक्ति होगी और न दिगम्बर होने से, न तर्कवाद से मुक्ति होगी और न तत्त्ववाद से, अपने पक्ष से चिपटे रहने से भी मुक्ति नही हागी। सही अर्थ मे कषाय-मुक्ति ही मुक्ति है।"

श्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे,
न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्ष सेवाश्रयणेन मुक्ति,
कषाय-मुक्तिः किल मुक्तिरेव॥

कषाय-मुक्ति और समता एक ही अर्थ को प्रगट करने वाले दो शब्द है। कषाय का अर्थ है—क्रोध, मान, माया, और लोभ। इनसे

मानसिक विषमता उत्पन्न होती है। कषाय मुक्ति का अर्थ है—क्रोध आदि से मुक्त होना, उनपर विजय पाना अर्थात् क्षमा, मृदुता आर्जव और संतोष को प्राप्त करना। उनकी प्राप्ति से मानसिक समता उत्पन्न होती है।

व्यक्ति का जीवन जितना निश्छल या सरल होता है, उतना ही वह काल्पनिक भय से दूर रह सकता है। निश्छलता का अर्थ है कषाय-मुक्ति।

व्यक्ति का जीवन जितना शान्त होता है उतना ही वह स्नायविक तनाव से बच सकता है। शान्ति का अर्थ है कषाय-मुक्ति।

व्यक्ति का मानस जितना ममत्वहीन होता है उतना ही वह स्नायविक तनाव से बच सकता है। निर्ममत्व का अर्थ है कषाय मुक्ति।

व्यक्ति जितना मृदु होता है, उतना ही वह विषम मनोदशा से बच सकता है। समता का अर्थ है कषाय-मुक्ति।

हम कषाय-मुक्ति या समता के सिद्धान्त को समझकर ही भगवान् महावीर को समझ सकते हैं। अन्यथा महावीर हमारी श्रद्धा में व्याप्त हो सकते हैं हमारे जीवन में नहीं।



आत्म-कर्तृत्व

भगवान् भगवान् ही रहे और भक्त भक्त ही बना रहे, इसमे महावीर को आपत्ति थी। भगवान् भगवान् ही रहे, इसमे कोई आपत्ति नही। आपत्ति यही थी कि भक्त भक्त ही बना रहे। महावीर जन्मे तब भगवान् नही थे। उनका जन्म श्रावक-कुल मे हुआ। उनके माता-पिता पार्श्व के शिष्य थे। कुल परम्परा से महावीर भी उन्ही के शिष्य थे। किन्तु एक दिन वे शिष्य नही रहे, स्वय भगवान् हो गये, वैसे ही जैसे पार्श्व थे।

जो व्यक्ति भक्त बने रहने के लिये भगवान् को पूजता है, वह सच्चा भक्त नही या उसका भगवान् सही अर्थ मे भगवान् नही है। महावीर ने भगवान् होते ही यही कहा—प्रत्येक आत्मा मे भगवान् है। उसको प्रकट करने पर प्रत्येक आत्मा भगवान् बन जाता है। महावीर को अपनी असीम शक्ति पर अथाह विश्वास हुआ। तीव्र प्रयत्न किए बिना शक्ति की अभिव्यक्ति नही होती। यह सत्य उनसे छिपा नही रहा, वे भगवान् बन गये।

समभाव की साधना

हम चलते चले, किन्तु लक्ष्य की ओर न चलें, इसे महावीर सब दोषों का मूल मानते थे।

गति से पहले हमारा लक्ष्य स्थिर होना चाहिये। महावीर का लक्ष्य था, भगवान् बनना। लगता है यह पद-लोलुपता है। जो लगे वह बहुत सत्य नही होता, इसमे भी सचाई नही है। भगवान् कोई पद नही है, उपाधि नही है। जहाँ सब उपाधियाँ और सब पद समाप्त होते है वहाँ भगवान् के रूप का उदय होता है। प॰ वही है जहाँ सब समान नही है। महावीर ने देखा—आत्मा के जगत् मे कोई न्यून या अधिक नही है। जितनी न्यूनाधिकता है वह सब पौद्गलिक जगत् से सम्बन्धित है। इसलिये और और बनने का लक्ष्य बनाना दोषपूर्ण है, विषमता की ओर गति है। महावीर ने भगवान् बनने का लक्ष्य स्थिर किया समता की ओर गति की, वे भगवान् बन गये।

कष्ट-सहिष्णुता

सब सुख चाहते ह दु ख कोई नही चाहता। किन्तु सबको सुख की चाह है इस प्रवृत्ति मात्र से उन्हे सुख नही मिलता। न चाहने पर भी दुख होता है और इसलिये होता है कि प्रवृत्ति वैसी ही की जाती है, जिससे दु'ख उत्प न हो। सुख की चाह और दु ख का भय भगवान् बनने की गति के विघ्न है। महावीर यही मानकर चले। जितनी कठिनाइयाँ आई, उनको झेला। कष्टों को सहते सहते वे महावीर बन गये। पहले वे वर्धमान थे—बढ रहे थ। जो आगे बढना है उसे कष्ट रोकने का यत्न करते ह। पर उस समय जो रुक जाता है वह पिछड़ जाता है। जो कष्टों को चीर आगे बढ़ता

है, वह महावीर बन जाता है। वे महावीर बने रहे, इसीलिए भगवान् बन गए।

अभय

परतन्त्रता मे उदय नही होता, इसे जानते बहुत है, मानते बहुत कम हैं। मन मे भय है, तब तक कोई स्वतन्त्र नही होता। उसकी अनेक जातियाँ है और वह अनेक शृंखलाओं से मनुष्य को जकडे रहता है। महावीर ने सबसे पहले उसकी सबसे बडी जकड़न से पिण्ड छुडाया। वे मृत्यु के सामने जाकर खडे हो गए। उसने उन्हे बहुत डराया। वे एक बार भी नही डरे। भय की सारी गाठे खुल गई। वे पूर्ण स्वतन्त्र हो गए। वे भगवान् बन गए।

अनाग्रह

हिंसा वही करता है, जो पराजित होता है। मनुष्य मनुष्य से ही पराजित नही होता, अपने-आपसे भी पराजित होता है। परिस्थिति के सामने झुकने वालों मे अपनी शक्ति का उदय नही होता। महावीर ने हार मानना सीखा ही नही। वे न मनुष्यों से पराजित हुए, न अपने-आपसे और न परिस्थितियों से। इसलिए वे अहिंसा में रम गए। अहिंसा उनसे अभिन्न हो गई। महावीर का अर्थ अहिंसा और अहिंसा का अर्थ महावीर हो गया। उनकी अहिंसा का आदि भाग था अभय, मध्य था उपेक्षा और अन्तिम भाग था समता। भय नही था किन्तु उपेक्षा थी, इसीलिए उनका दर्शन उद्दण्ड नही, विनम्र बना, उसमे सत्य का अवरोध नही हुआ, उसकी जिज्ञासा रही। ऋजुता का

विकास हुआ, आग्रह का नहीं। गौतम सबसे बड़े शिष्य थे, मुनियों में श्रेष्ठ थे। आनन्द श्रावक था गृहस्थ था।

आनन्द ने कहा—मैं इतने लोक को देख रहा हू।

गौतम ने कहा—ऐसा हो नहीं सकता तुम प्रायश्चित्त करो।

आनन्द—भंते! महावीर के मत मे यथार्थ बोलने वाले को प्रायश्चित्त प्राप्त होता है या अयथार्थभाषी को?

गौतम—अयथार्थभाषी को।

आनन्द—तो भन्ते! आप ही प्रायश्चित्त करें।

गौतम भगवान् के पास आए। भगवान् ने कहा—गौतम! आनन्द ने जो कहा वह सत्य है। तुमने सत्य को झुठलाया इसलिए जाओ और आनन्द से क्षमा मागो।

आनन्द ने देखा—गौतम उन्ही पैरों वापस आ रहे है। वह उल्लास से भर गया।

महावीर यथार्थ के उपासक है व्यक्ति के नहीं। उन्होंने आग्रह को छोड़ा और वे भगवान् बन गए।

मोह विजय

ज्ञान आवृत होता है तब व्यक्ति जान नही पाता। उससे कोई विकार नही बढ़ता। मोह चैतन्य को विकृत करता है। दृष्टि मूढ़ होती है व्यक्ति का दर्शन धुधला हो जाता है। चरित्र मूढ होता है व्यक्ति अनाचरणीय का आचरण करता है। महावीर ने मोह को क्षीण करने के लिए साधना की। सिद्धि सदा साधना का साथ देती है। मोह का विलय हुआ ज्ञान का आवरण टूट गया। वे भगवान् बन गए।

: ११ :

महावीर को महावीर ही रहने दें !

महावीर का निर्वाण ढाई हजार वर्ष पहले हो चुका। फिर भी भगवान् ने हमें जो तत्त्व दिया, वह इतना महान् दिया कि वे आज भी हमारे प्रत्यक्ष है। पुराना वह है जिसके प्रति कोई आकर्षण न हो। महावीर के प्रति जनता का आकर्षण है। इसलिए वे नये है। महावीर को हम महावीर ही रहने दे, अपने रंग मे न रंगे तो वे सदा नए ही रहेंगे। बहुत बार ऐसा होता है—अनुयायी आराध्य के रंग से अपने को नही रंगते, किन्तु अपने रंग मे आराध्य को रंग देते है। वहाँ उनका मूल रूप ढक जाता है।

महावीर ने जो कहा वह एक रूप ही कहा। आज हमने अनेक महावीर उत्पन्न कर दिये है। महावीर व्यक्ति को हम एक मानते है, किन्तु प्रवचनकार महावीर एक नही है। हमारी व्याख्या मे महावीर का जो प्रवचनकार रूप है, वह दूसरों की व्याख्या मे सोलह आना वैसा ही नही है। इसलिए यह प्रश्न उलझन-भरा है। महावीर से यथार्थ सम्बन्ध किसका महावीर के प्रवचन को यथार्थतः

पकड़ा यह मानकर तो कोई नही चलता। सब अपने-अपने पथ पर सही है पर दूसरों की दृष्टि मे उतने सही नही है जितने कि वे स्वयं है। हम अनेक होकर भी महावीर को एक नही रहने देते। राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने कहा था— मैंने राम बुद्ध आदि महापुरुषों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। भगवान् महावीर को भी मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करना चाहता हू पर एक कठिनाई है। भगवान् महावीर का श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायो द्वारा सम्मत-जीवन-चरित नही मिल रहा है। मै किसका अभिमत लू और किसका छोड़ू ? किसे प्रसन्न रखू और किसे अप्रसन्न ? आप कोई मार्ग सुझाए जिससे मैं अपनी भावना को पूर्ण कर सकू।" पर आचार्य श्री भी क्या सुझाते ? श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार महावीर ने विवाह किया। दिगम्बर-शास्त्र कहते है—नहीं किया। और भी जो भेद है वे है ही। किन्तु ये गौण भेद है। सबसे बड़ा भेद है विचारों का। उसका कारण है शब्दों की खींचातानी। वह इसलिए होती है कि सर्व सम्मत प्रमाणित वक्ता कोई है नही। अपने अपने सम्प्रदायों मे भी सम्भवत वैसा व्यक्ति नहो है। शास्त्रो की भाषा दो या ढाई हजार वर्ष पुरानी है। समय की लम्बी अवधि मे चिन्तन का प्रकार भी अज्ञात-सा हो गया है। ये सारी स्थितियाँ शास्त्रवाणी को समझने म जटिलता उत्पन्न करती है। सन्दर्भ के बिना शब्द के सही अर्थ को पकड़ना सहज नही होता।

चेलणा सोई हुई थी। सर्दी कड़ाके की थी। उसका हाथ कम्बल से बाहर रह गया। वह ठिठुर गया। थोड़ी नींद खुली। सहसा उसके

मुँह से निकल गया—"वह क्या करता होगा ?" मगध सम्राट् श्रेणिक की भौंहे तन गई । महारानी अपने प्रेमी को याद कर रही है । यह मान उनका मन संदेहों से भर गया । उन्होंने महारानी के महल को जला डालने की आज्ञा दे दी । आखिर रहस्य खुला । चेलणा ने उसी शाम को एक मुनि को जंगल मे ध्यान करते हुए देखा था । अपने हाथ को ठिठुरते देख सहसा उसके मुह से निकल गया—"वह क्या करता होगा ?" इस सदर्भ मे यह वाक्य दूसरा अर्थ देता है । सदर्भ के बिना इसी वाक्य ने जो अर्थ दिया, उसने श्रेणिक को कोपान्ध बना दिया । देश-काल और सन्दर्भों के अभाव मे आगमों के अर्थ को पकडने मे कितनी कठिनाई होती है, उसे वे ही समझ सकते है, जिन्होंने इस पर थोडा चिन्तन किया है । हमारे प्राचीन व्याख्याकारों ने आगम के एक पाठ के अनेक अर्थ किए है । उसका निश्चित अर्थ बताने मे वे स्वय असदिग्ध नही थे । ऐसे बहुत सारे आगमिक शब्द है, जिनका असदिग्ध अर्थ आज भी प्राप्त नही है और ऐसे पाठ भी है जिनके लिये—"तत्त्वं पुन केवलिगम्यम्" कहकर ही छुट्टी लेनी पडती है । फिर भी आग्रह इतना है मानो सारा सत्य प्रत्यक्ष ही हो । इस परिस्थिति मे हम महावीर की जयन्ती मना कर के भी उनकी विजय-पताका फहराने का अधिकार नही पा सकते । उनके विभिन्न रूपों मे एकता नही ला सकते । यह तभी सम्भव है, जब हम महावीर को महावीर की दृष्टि से ही जनता को देखने दें ।

हम स्वय रूढ बनकर महावीर को रूढ बनायें, हम स्वय सीमित बनकर महावीर को सीमित बनायें, यह सर्वथा अवाछनीय है । हम

आगमों को इस दृष्टि से मानते है कि सत्य की शोध हमारे लिए शेष नही है, तो वह दृष्टिकोण सही नही होगा। इससे हमारा विचार प्रवाह रुका है और ज्ञान की धारा कुण्ठित हुई है। हम उतने नवीन नही रहे है जितने कि होने चाहिए थे। हमारे ज्ञान मे वह क्षमता नही है जिससे हम युग को प्रभावित कर सकें। हम प्राप्त पूजी की सुरक्षा मे ही व्यस्त है। उसे बढाने के लिये कोई चिन्तन नही है। आज वनस्पति विज्ञान जीव-विज्ञान आदि विभिन्न वैज्ञानिक शाखाओं के नित्य नए अनुसंधान हो रहे है, नये नये तथ्यों की उपलब्धियां हो रही है। उस जगत् मे हम कोरी शाब्दिक दुहाई देकर रटी-रटाई बातों को पकड़ कर क्या महावीर की वाणी को नित्य नवीन रख सकेगे? हम उसे अनुसंधान के क्षेत्र मे लाकर ही ऐसा कर सकते है। हमारी बहुत बडी साहित्य निधि जो आज जीर्ण सी हो रही है, को नवीन दृष्टियों से परख कर ही हम उसे नवीन रख सकते है। जो सत्य उन्होने दिया उसे विकसित करने के लिए हम अपने प्राणों का अर्ध्य दें। वैज्ञानिक युग की कसौटियों को समझ और उनके द्वारा परख-परख कर सत्य को प्रसारित करें। महावीर का प्रवचन तभी सार्थक होगा।

★

: १२ :
जैन शासन तेजस्वी कैसे बने ?

दुनिया के रगमच पर वही वस्तु टिक पाती है जो तेजस्वी होती है। सक्षम होती है जो बुझ जाती है, वह उपेक्षित हो जाती है। जो बात अग्नि के लिए है, वह सब वस्तुओं के लिये है। जैन शासन एक सस्थान है, एक वस्तु है। इसमे प्रकाश और तापमान दोनो आवश्यक हैं। वह जीवित इसलिये है कि उसमे ये दोनों हैं। आज पौद्गलिकता, बौद्धिकता और वैज्ञानिकता के सामने अध्यात्म या धर्म निष्प्रभ-सा लग रहा है, उसका हेतु ढूंढ निकालना चाहिये। मीमांसा या अनुभव के बाद यदि लगे कि अध्यात्म कोरी कल्पना हैं, तो उसके पीछे चिपके रहना अर्थ शून्य है। अध्यात्म हमारे लिए सर्वोपरि उपयोगी है। उसकी विस्मृति सुख और शांति की विस्मृति है यदि ऐसा लगे तो उसे तेजस्वी बनाने का यत्न करना चाहिए। मेरा अपना विश्वास और अनुभव है कि अध्यात्म को खोकर आदमी अपनी सर्वोच्च सम्पदा को खो देता है। यह जीवन का ऐसा स्थिर मापदण्ड है, जो जीवन के शेष सब मूल्यों को सतुलित

रखता है। इसके अभाव में जीवन के अधिकांश मूल्य असतुलित हो जाते है।

जैन धर्म का आधार ही अध्यात्म है। उसकी ज्ञान मीमांसा में पहला स्थान आत्मा का है। ज्ञान आत्मा का गुण है। उसकी प्रमाण मीमासा मे पहला स्थान आत्मा का है। प्रमाण आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है। उसकी तत्व मीमांसा मे पहला स्थान आत्मा का है। नव-पदार्थों मे पहला पदार्थ आत्मा है। उसकी आचार मीमासा में पहला स्थान आत्मा का है। भगवान् महावीर की सारी आचार-व्यवस्था आत्म विकास के लिये ही है।

जिसके आदि, मध्य और अन्त मे सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है उसे अध्यात्म के सिवाय और कुछ नही कहा जा सकता। जैन धर्म सर्वथा आध्यात्मिक धर्म है। सम्यक-दर्शन से लेकर निर्वाण तक वह आध्यात्मिक ही रहता है। उसके आत्मिक वर्चस्व से पौद्गलिकता सीमित हो सकती है। उसके स्व की श्रद्धा से बुद्धिवाद विनम्र हो सकता है। उसके आत्मानुसन्धान से वैज्ञानिकता निरंकुश नही रह सकती। किन्तु प्रश्न यह है कि जैन धर्म का ऐसा तेजस्वी रूप क्या आज विद्यमान है ?

आज जैन शासन मे ज्ञानी भी है। साधनशील भी है, संयमी भी है और तपस्वी भी है। किन्तु ध्यानी बहुत कम है। ध्यान के अभाव में ज्ञान, साधना सयम और तपस्या—ये सब गृहीत हैं अन्तर से उद्भूत नही हैं। जब ये बाहर से आते है, तब इनमें चमत्कार होता है और जब ये अन्तर से निकलते है, तब इनमे तेज होता है। आज के

वातावरण मे आन्तरिकता बहुत अपेक्षित है। ध्यान और क्या है ? आन्तरिकता का जो उदय है, वही ध्यान है। व्यक्ति बाह्य मे जितना रमण करता है, उतना ही वह अपने चित्त को विक्षेप करता है। चित्त का विक्षेप अर्थात् शक्ति का विक्षेप, चित्त का केन्द्रीकरण अर्थात् शक्ति का केन्द्रीकरण।

भगवान् महावीर ने आत्म-केन्द्रित होने की शिक्षा दी। कुछ लोग इसे निष्क्रियता मानते है, पर यह सच नही है। निष्क्रियता का अर्थ—शक्ति की कुण्ठा। आत्म-केन्द्रित होने से शक्ति कुण्ठित नही होती, प्रत्युत अधिक विकसित होती है। इसलिए आत्म-केन्द्रित होने को निठल्लों का हथियार नही कहा जा सकता। जो व्यक्ति बाह्य वस्तुओं से जितना अधिक लगाव रखता है, उसके उतना ही अधिक विक्षेप होता है। उसकी प्रातिभ-सूक्ष्मता क्षीण होती है और कार्यजा-शक्ति कुण्ठित होती है।

आचार्यों ने कहा —आत्म-बोध ही सम्यक् ज्ञान है। आत्म-दर्शन ही सम्यक्-दर्शन है, आत्म-रमण ही सम्यक्-चारित्र है। आज हमारा साधु-समाज इस आत्म-केन्द्रित-रत्नत्रयी की अपेक्षा गृहीत-रत्नत्रयी पर अधिक विश्वास करता है। आत्मा की पकड की अपेक्षा शब्दों की पकड अधिक है। सहज चेतना की अपेक्षा शास्त्रीय ज्ञान अधिक है। सत्य विशाल है और शब्द सीमित। सत्य की अभिव्यक्ति के लिए शब्द होते हैं। परन्तु वे उसको सीमित बना देते है। यही कारण है कि जो शास्त्र-समाधान के लिए होते है, वे स्वय समस्या बन जाते है।

आज हमारे सामने जितनी समस्या शास्त्रीय है उतनी आत्मिक नही है। प्रतिलेखन प्रतिक्रमण आदि सारी क्रियायें आत्मोदय के लिए है। किन्तु बीसों वर्षों तक उनका पालन करने पर भी उनमे से कोई रस नही टपकता तब लगता है कि हमने शास्त्र को जगाया है पर शास्त्र हमारी आत्मा को नही जगा पाए हैं। जो शास्त्र हमारी आन्तरिकता से नही जुड पाते वे बहुधा शस्त्र बन जाते है।

आत्मा उद्बुद्ध होती है तो शस्त्र भी शास्त्र बन जाते है और सुषुप्त आत्मा के लिए शास्त्र भी शस्त्र बन जाते हैं। भगवान महावीर आत्मा के महान् उद्बोधक थे। उनकी वाणी को हम इसीलिए शास्त्र मानते ह कि उसमें आत्मा का शासन है और आत्मा का त्राण है। भवा शून्य क्रिया इसीलिए प्रतिफलित नहीं होती कि उसमे अपना शासन और अपना त्राण नही होता। भावोपेत क्रिया के लिए ये सद्यस्क अपेक्षाए है—

१—मानसिक समाधान के लिए शास्त्र हो समस्या की सृष्टि के लिए नही।

२—रत्नत्रयी आत्म-केन्द्रित हो केवल व्यवहाराश्रित नही।

३—ज्ञान साधना सयम और तपस्या ध्यान से प्रभावित हों उससे शून्य नही।

४—समाधान वर्तमान के आलोक में भी ढूंढा जाय, केवल अतीत के गर्भ मे ही नही।

यदि ऐसा हो तो धर्म-शासन फिर महान् तेजस्वी बन सकता है। और भौतिकताप्रधान युग की चुनौती को झेलने में सक्षम हो सकता है।

: १३ :

महावीर के सिद्धान्त और लोकतन्त्र

काल की दृष्टि से महावीर पुराने हो गए। उनका जन्म ढाई हजार वर्ष पहले चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। उपयोगिता की दृष्टि से महावीर बिलकुल नए है। पुराना वह होता है, जिसमे समाधान देने की क्षमता नही रहती। महावीर ने जो दिया, उसमे आज भी समाधान देने की क्षमता है, इसीलिए वे हमारे लिए नए है।

आज हिन्दुस्तान मे ढाई हजार वर्ष पुराने युग की पुनरावृत्ति हो रही है। महावीर गणतन्त्र के अस्तित्व काल मे जन्मे थे। आज यहाँ जनतन्त्र का विकास हो रहा है। महावीर ने जिन सिद्धान्तों की व्याख्या की, उनमे गणतन्त्रीय भावनाओं का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। जनतन्त्र मे पलने वालों के लिए उन्हे समझना नितान्त आवश्यक है।

महावीर का पहला सिद्धान्त था—

स्वतन्त्रता। शेष सब सिद्धान्त उसी के लिए। जिस व्यक्ति मे स्वतन्त्रता के प्रति अनुराग नही होता उसके सारे सिद्धात शक्तिहीन हो जाते हैं। शक्ति का मूल

स्रोत है स्वतन्त्रता। धर्म का आधार दण्डनीति नही है। वसे ही जनतन्त्र का आधार भी दण्डनीति नही है। धर्म का आधार है आत्मा की शक्ति और जनतन्त्र का आधार है जनता की शक्ति। व्यक्ति मे स्वतन्त्र रहने की तड़प हो तब धर्म का उदय होता है और जनता मे स्वतन्त्र रहने की तड़प हो तब जनतन्त्र का उदय होता है।

महावीर का दूसरा सिद्धान्त था आत्म निर्णय का अधिकार।

हमारे भाग्य का निर्णय किसी दूसरी सत्ता के हाथ में हो वह हमारी सार्वभौम सत्ता के प्रतिकूल है—यह उन्होंने बताया। उन्होंने कहा—दुःख और सुख दोनों तुम्हारी ही सृष्टि है। तुम्ही अपने मित्र हो और तुम्ही अपने शत्रु। यह निर्णय तुम्ही को करना है तुम क्या होना चाहते हो ? जनतन्त्र के लिए यह बहुत ही महत्व पूर्ण सिद्धान्त है। जहाँ व्यक्ति को आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं होता वहाँ उसका कर्तृत्व कुण्ठित हो जाता है। नव निर्माण के लिए पुरुषार्थ और पुरुषार्थ के लिए आत्म निर्णय का अधिकार आवश्यक है।

महावीर का तीसरा सिद्धान्त था आत्मानुशासन।

उन्होंने कहा—दूसरो पर हकूमत मत करो। हकूमत करो अपने शरीर पर, अपनी वाणी पर और मन पर। आत्मा पर शासन करो, संयम के द्वारा, तपस्या के द्वारा यह अच्छा नहीं होगा कि कोई व्यक्ति वध और बधन के द्वारा तुम्हारे पर शासन करे।

जनतन्त्र की सफलता आत्मानुशासन पर निर्भर है। बाहरी नियन्त्रण जितना अधिक होता है उतना ही स्वतन्त्र निस्तेज होता है। उसकी तेजस्विता इस बात पर निर्भर है कि देशवासी लोग अधिक से अधिक आत्मानुशासित हों।

महावीर का चौथा सिद्धान्त था सापेक्षता ।

उसका अर्थ है सबको समान अवसर। विलौना करते समय एक हाथ पीछे जाता है और दूसरा आगे आता है, फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे आता है। इस क्रम से नवनीत निकलता है, स्नेह मिलता है।

चलते समय एक पैर आगे बढता है, दूसरा पीछे फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे आ जाता है। इस क्रम से गति होती है, आदमी आगे बढता है।

यह सापेक्षता ही स्याद्वाद का रहस्य है। इसी के द्वारा सत्य का ज्ञान और उसका निरूपण होता है। यह सिद्धान्त जनतन्त्र की रीढ है। कुछ एक व्यक्ति सत्ता, अधिकार और पद से चिपककर बैठ जाएं, दूसरो को अवसर न दें तो असतोष की ज्वाला भभक उठती है। कांग्रेस अध्यक्ष श्री कामराज ने समस्थिति के लिए यह सुझाव भी रखा था—जो लोग प्रशासन मे है, वे दल का काम करें और जो दल के काम मे लगे हुए है, वे प्रशासन मे चले जाए। यह सापेक्ष नीति गुटबन्दी कोमल करने मे काफी काम कर सकती है। नीतियां भिन्न होने पर भी यदि सापेक्षता हो तो अवांछनीय अलगाव नहीं होता।

महावीर ने जो किया, वह मुक्ति के लिए किया, उन्होने जो कहा वह मुक्ति के लिए कहा। जनतन्त्र भी तो व्यावहारिक मुक्ति का प्रयोग है। इसलिए महावीर की करनी और कथनी दोनों मे पथ-दर्शन की क्षमता है।

स्रोत है स्वतन्त्रता। धर्म का आधार दण्डनीति नहीं है। वैसे ही जनतन्त्र का आधार भी दण्डनीति नहीं है। धर्म का आधार है आत्मा की शक्ति और जनतन्त्र का आधार है जनता की शक्ति। व्यक्ति मे स्वतन्त्र रहने की तड़प हो तब धर्म का उदय होता है और जनता मे स्वतन्त्र रहने की तड़प हो तब जनतन्त्र का उदय होता है।

महावीर का दूसरा सिद्धान्त था आत्म निर्णय का अधिकार।

हमारे भाग्य का निर्णय किसी दूसरी सत्ता के हाथ मे हो वह हमारी सार्वभौम सत्ता के प्रतिकूल है—यह उन्होंने बताया। उन्होंने कहा—दु ख और सुख दोनों तुम्हारी ही सृष्टि है। तुम्ही अपने मित्र हो और तुम्ही अपने शत्रु। यह निणय तुम्हीं को करना है तुम क्या होना चाहते हो ? जनतन्त्र के लिए यह बहुत ही महत्व पूर्ण सिद्धान्त है। जहाँ व्यक्ति को आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं होता वहाँ उसका कर्तृत्व कुण्ठित हो जाता ह। नव निर्माण के लिए पुरुषार्थ और पुरुषार्थ के लिए आत्म निर्णय का अधिकार आवश्यक है।

महावीर का तीसरा सिद्धान्त था आत्मानुशासन।

उन्होंने कहा—दूसरो पर हकूमत मत करो। हकूमत करो अपने शरीर पर, अपनी वाणी पर और मन पर। आत्मा पर शासन करो, सयम के द्वारा, तपस्या के द्वारा यह अच्छा नहीं होगा कि कोई व्यक्ति वध और बंधन के द्वारा तुम्हारे पर शासन करे।

जनतन्त्र की सफलता आत्मानुशासन पर निर्भर है। बाहरी नियन्त्रण जितना अधिक होता है उतना ही स्वतन्त्र निस्तेज होता है। उसकी तेजस्विता इस बात पर निर्भर है कि देशवासी लोग अधिक से अधिक आत्मानुशासित हों।

आज हिन्दुस्तान एक संक्रमण बिन्दु पर खड़ा है। यह अतीत की देहलीज को लांघकर वर्तमान के प्रांगण में पैर बढ़ाने को उत्सुक है। हर नया कदम नई समस्या उत्पन्न करता है उसका समाधान वर्तमान में भी मिल सकता है और अतीत में भी। बुझी हुई आग से कोई नहीं डरता किन्तु जलती हुई आग सहज ही आसपास में डर उत्पन्न करती है। सैनिक शक्ति से दुर्बल हिन्दुस्तान से किसी को भय नहीं था। किन्तु सैन्य-शक्ति की योजना से आसपास में संदेह का वातावरण होने लगा है। अपने में दुर्बल रहना भी खतरनाक है और अपने पड़ोसियों के लिए संदिग्ध बनना भी खतरनाक है। इस जटिल समस्या को सामने रखते ही महावीर की वह बात स्मरण हो जाती है—शक्ति-संवर्धन का कवच है अभय सम्वर्धन। स्वयं अभय रहो और दूसरों को अभय करो। अभय के साथ जो शक्ति बढ़ेगी वहां संदेह नहीं बढ़ेगा। पुराने मित्र शत्रु नहीं होंगे और नये सिरे से कोई शत्रु नहीं बनेगा। महावीर की सीख को समझने वाला आक्रमणकारी नहीं हो सकता। अपनी व अपने राष्ट्र की सुरक्षा करना आक्रमण नहीं है। हिन्दुस्तान के राजनयिकों को चाहिए कि वे अनाक्रमण की नीति को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शक्तिशाली बनाएँ और अभय का वातावरण पैदा करें। राजनीतिक दलों और धर्म सम्प्रदायों को चाहिए कि वे एक दूसरे पर कीचड़ न उछालें परस्पर विश्वास प्राप्त करें ऐसा करने में हम सबका हित है। और यह महावीर के प्रति सहज ही हमारी श्रद्धांजलि समर्पित हो जाएगी।